

Chapter तेरह

धृतराष्ट्र द्वारा गृह-त्याग

सूत उवाच

विदुरस्तीर्थयात्रायां मैत्रेयादात्मनो गतिम् ।

ज्ञात्वागाद्धास्तिनपुरं तथावाप्तविवित्सितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—श्री सूत गोस्वामी ने कहा; विदुरः—विदुर; तीर्थ-यात्रायाम्—विभिन्न तीर्थ स्थानों की यात्रा करते हुए; मैत्रेयात्—महर्षि मैत्रेय से; आत्मनः—अपनी, स्व की; गतिम्—गति, गन्तव्य; ज्ञात्वा—जानकर; अगात्—लौट आया; हास्तिनपुरम्—हस्तिनापुर नगरी में; तथा—उस ज्ञान से; अवाप्त—प्रचुर लाभ उठाने वाला; विवित्सितः—प्रत्येक ज्ञेय विषय में निष्णात।

श्री सूत गोस्वामी ने कहा : तीर्थयात्रा करते हुए विदुर ने महर्षि मैत्रेय से आत्मा की गति का ज्ञान प्राप्त किया और फिर वे हस्तिनापुर लौट आये। वे अपेक्षानुसार इस विषय में पारंगत हो गये।

तात्पर्य : विदुर—महाभारत के इतिहास में ये प्रसिद्ध व्यक्तियों में से एक थे। महाराज पाण्डु की माता अम्बिका की दासी के गर्भ से, ये व्यासदेव के द्वारा उत्पन्न हुए थे। वे यमराज के अवतार हैं। मण्डूक मुनि से शाप-ग्रस्त होने के कारण इन्हें शूद्र होना पड़ा। कहानी इस प्रकार है : एक बार राज्य के सिपाहीयों ने कुछ चोर पकड़े, जो मण्डूक मुनि की कुटी में छिपे हुए थे। सिपाहीयों ने चोरों के साथ-साथ जैसे सामान्य रूप से किया जाता है, मण्डूक मुनि को भी बन्दी बना लिया। न्यायाधीश ने

विशेष रूप से मुनि को विशेष रूप से शूली पर चढ़ा कर मार डालने का आदेश दिया। किन्तु जब उन्हें भाला भोंका जाने वाला था, तो इसका समाचार राजा के पास पहुँच गया। अतः उसने तुरन्त ही उनका, महामुनि होने के नाते, वध रोकने का आदेश दिया। राजा ने स्वयं मुनि से अपने व्यक्तियों की गलती के लिए क्षमा माँगी। यह मुनि तुरन्त ही जीवों के भाग्य-विधाता, यमराज के पास पहुँचे। जब मुनि ने उनसे पूछा तो यमराज ने उत्तर दिया कि मुनि ने अपने बचपन में एक तेज नुकीले तिनके से चोंटी को बीध डाला था, इसलिए उसे यह कष्ट उठाना पड़ा। मुनि ने सोचा कि यह यमराज की मूर्खता थी कि उन्हें बचपन के अज्ञान के लिए दण्डित किया गया, अतएव मुनि ने यमराज को शाप दे डाला कि वे शूद्र बन जाये। यमराज का यह शूद्र अवतार विदुर के नाम से विख्यात हुआ, जो धृतराष्ट्र तथा महाराज पाण्डु का शूद्र भ्राता थे। लेकिन भीष्मदेव ने कुरुवंश के इस शूद्र पुत्र के साथ अपने अन्य भतीजों के समान ही व्यवहार किया। कालान्तर में विदुर का विवाह ऐसी कन्या से हुआ, जो एक ब्राह्मण द्वारा शूद्राणी के गर्भ से उत्पन्न हुई थी। यद्यपि विदुर अपने पिता (भीष्मदेव के भाई) की सम्पत्ति के उत्तराधिकारी नहीं हुए, लेकिन विदुर के बड़े भाई धृतराष्ट्र ने उन्हें पर्याप्त राज्य-सम्पत्ति प्रदान की थी। विदुर अपने बड़े भाई के प्रति अत्यधिक अनुरक्त थे और वे उसे निरन्तर सही मार्ग पर ले जाना चाहते थे। कुरुक्षेत्र के भ्रातृ युद्ध के समय विदुर ने बारम्बार अपने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वह पाण्डु-पुत्रों के साथ न्याय बरते, लेकिन दुर्योधन को अपने चाचा की यह दखल पसन्द न थी। अतएव उसने विदुर का अपमान कर दिया था। इसके कारण विदुर घर छोड़कर तीर्थाटन करने तथा मैत्रेय से उपदेश ग्रहण करने चले गये।

यावतः कृतवान् प्रश्नान् क्षत्ता कौषारवाग्रतः ।

जातैकभक्तिर्गोविन्दे तेभ्यश्चोपरराम ह ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यावतः—वह सब; कृतवान्—उन्होंने किये; प्रश्नान्—प्रश्न; क्षत्ता—विदुर का नाम; कौषारव—मैत्रेय का नाम; अग्रतः—की उपस्थिति में; जात—बड़े होकर; एक—एक; भक्तिः—दिव्य प्रेममयी सेव; गोविन्दे—भगवान् कृष्ण की; तेभ्यः—अगले प्रश्नों के सम्बन्ध में; च—तथा; उपरराम—विराम ले लिया; ह—भूतकाल में।

विविध प्रश्न पूछने के बाद तथा भगवान् कृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में स्थिर हो चुकने पर, विदुर ने मैत्रेय मुनि से प्रश्न पूछना बन्द किया।

तात्पर्य : विदुर ने मैत्रेय मुनि से तब प्रश्न पूछना बन्द किया, जब मैत्रेय ऋषि ने उन्हें आश्चस्त किया कि जीवन का *आश्रय-तत्त्व* तो अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमामयी सेवा में सुस्थापित होना है, जो गोविन्द हैं अर्थात् जो अपने भक्तों को सभी प्रकार से तुष्ट रखते हैं। बद्धजीव अर्थात् भौतिक अस्तित्व में फँसा हुआ जीव भौतिकतागुणों में अपनी इन्द्रियों को लगाकर सुख की खोज करता है, किन्तु इससे उसे सन्तोष नहीं होता। तब वह अनुभव सिद्ध तात्त्विक तर्क करने की विधि से तथा बौद्धिक करतबों से परम सत्य की खोज में जुट जाता है। किन्तु यदि उसे अन्तिम लक्ष्य प्राप्त नहीं होता, तो वह पुनः भौतिक कार्यकलापों में पतित हो जाता है और अपने आप को विविध परोपकारी तथा परमार्थ कार्य करने में लगा देता है, किन्तु इन सबसे उसे संतोष नहीं मिल पाता। अतः न तो सकाम कर्म और न ही शुष्क दार्शनिक चिन्तन से किसी को सन्तोष मिल सकता है, क्योंकि जीव स्वभावतः परमेश्वर श्रीकृष्ण का सेनातन सेवक है और सारे वैदिक ग्रन्थ इसी चरम लक्ष्य की ओर उसका मार्गदर्शन करते हैं। *भगवद्गीता* (१५.१५) द्वारा इस कथन की पुष्टि होती है।

विदुर के समान ही, जिज्ञासु बद्धजीव को, मैत्रेय जैसे प्रामाणिक गुरु के पास पहुँचना चाहिए और बुद्धिपरक जिज्ञासाओं द्वारा कर्म (सकाम कर्म), ज्ञान (परम सत्य को जानने के लिए दार्शनिक अनुसंधान) और योग (आत्म-साक्षात्कार की योग-विधि) के विषय में प्रत्येक वस्तु को जानने का प्रयास करना चाहिए। जो व्यक्ति अपने गुरु से प्रश्न पूछने के प्रति गम्भीरतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होता, उसे न तो दिखावटी गुरु करने की आवश्यकता है और न उस व्यक्ति को अन्यो का गुरु होने का दिखावा करना चाहिए, यदि वह अपने शिष्य को भगवान् श्रीकृष्ण की दिव्य प्रेमाभक्ति की ओर उन्मुख न कर सके। विदुर मैत्रेय जैसे गुरु के पास पहुँचने में सफल हुए थे और उन्हें जीवन का चरम लक्ष्य—गोविन्द की भक्ति—प्राप्त हो सका। अतः उनके लिए आध्यात्मिक प्रगति के विषय में और कुछ जानना शेष न बचा था।

तं बन्धुमागतं दृष्ट्वा धर्मपुत्रः सहानुजः ।

धृतराष्ट्रो युयुत्सुश्च सूतः शारद्वतः पृथा ॥ ३ ॥

गान्धारी द्रौपदी ब्रह्मन् सुभद्रा चोत्तरा कृपी ।

अन्याश्च जामयः पाण्डोर्जातयः ससुताः स्त्रियः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; बन्धुम्—सम्बन्धी को; आगतम्—वहाँ आया हुआ; दृष्ट्वा—देखकर; धर्म-पुत्रः—युधिष्ठिर ने; सह-अनुजः—अपने छोटे भाइयों के साथ; धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; युयुत्सुः—सात्यकि; च—तथा; सूतः—संजय; शारद्वतः—कृपाचार्य; पृथा—कुन्ती; गान्धारी—गान्धारी; द्रौपदी—द्रौपदी; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मणों; सुभद्रा—सुभद्रा; च—तथा; उत्तरा—उत्तरा; कृपी—कृपी; अन्याः—अन्य लोग; च—तथा; जामयः—अन्य परिवारवालों की पत्नियाँ; पाण्डोः—पाण्डुओं की; ज्ञातयः—पारिवारिक सदस्य; स-सुताः—अपने-अपने पुत्रों सहित; स्त्रियः—स्त्रियाँ।

जब उन्होंने देखा कि विदुर राजमहल लौट आये हैं, तो—महाराज युधिष्ठिर, उनके छोटे भाई, धृतराष्ट्र, सात्यकि, संजय, कृपाचार्य, कुन्ती, गान्धारी, द्रौपदी, सुभद्रा, उत्तरा, कृपी, कौरवों की अन्य पत्नियाँ तथा अपने-अपने बच्चों के साथ स्त्रियों समेत सारे निवासी—सभी अत्यन्त हर्षित होकर तेजी से उनकी ओर बढ़े। ऐसा प्रतीत हुआ मानो उन्होंने दीर्घकाल के बाद अपनी चेतना फिर से प्राप्त की हो।

तात्पर्य : गान्धारी—विश्व के इतिहास की आदर्श सती महिला। ये गान्धार के राजा (अब काबुल का कन्दहार) महाराज सुबल की कन्या थीं। उन्होंने कौमार अवस्था में शिवजी की आराधना की थी। सामान्यतया हिन्दू कुमारिकाएँ उत्तम पति प्राप्त करने के लिए शिवजी की आराधना करती हैं। गान्धारी ने शिवजी को प्रसन्न कर लिया और सौ पुत्र प्राप्त करने का वर प्राप्त करके धृतराष्ट्र से सगाई कर ली, यद्यपि वे जन्मांध थे। जब गान्धारी को पता चला कि उनका होनेवाला पति अन्धा है, तो उन्होंने अपने जीवन-संगी का अनुगमन करने के लिए स्वेच्छा से अन्धा बनने का निश्चय कर लिया। अतएव उन्होंने अपनी आँखों में रेशम की अनेक पट्टियाँ बाँध लीं और वे अपने बड़े भाई शकुनि के मार्गदर्शन में धृतराष्ट्र के साथ ब्याह दी गईं। वे अपने समय की सर्वाधिक सुन्दर कन्या थीं और समान रूप से स्त्री-योचित गुणों से युक्त थीं, जिससे कौरव दरबार का प्रत्येक सदस्य उनसे प्रेम करता था। किन्तु इन सब सद्गुणों के होते हुए भी उनमें स्त्री की सहज दुर्बलताएँ थीं और जब कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया तो ये उसके प्रति ईर्ष्या करने लगीं। यद्यपि दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, किन्तु पहले कुन्ती ने पुत्र को जन्म दिया। इस तरह गान्धारी क्रुद्ध हो गईं और अपने उदर पर प्रहार किया। फलस्वरूप उसने मांस के एक पिण्ड को ही जन्म दिया, लेकिन चूँकि वे व्यासदेव की भक्त थीं, अतएव व्यासदेव की आज्ञा से उस पिण्ड को सौ भागों में विभक्त कर दिया गया और इनमें से प्रत्येक भाग धीरे-धीरे बालक के रूप में विकसित हो गया। इस प्रकार, एक सौ पुत्रों की माता बनने की उनकी मनोकामना पूरी हो गई और वे

उन सबों का अपनी उच्च स्थिति के अनुसार पालन-पोषण करने लगीं। जब कुरुक्षेत्र-युद्ध का षड्यंत्र चल रहा था, तो वे पाण्डवों से युद्ध किये जाने के पक्ष में न थीं, अपितु उन्होंने अपने पति धृतराष्ट्र को ऐसे बन्धुघाती युद्ध के लिए लांछित भी किया। वे चाहती थीं कि राज्य को दो भागों में विभक्त किया जाय और पाण्डु पुत्रों तथा अपने पुत्रों को एक-एक भाग दे दिया जाय। जब कुरुक्षेत्र के युद्ध में उनके सारे पुत्र मारे गये तो वे अत्यन्त शोकमग्न हुईं और वे भीमसेन तथा युधिष्ठिर को शाप देना चाहती थीं, किन्तु व्यासदेव ने उन्हें रोक लिया। भगवान् कृष्ण के समक्ष दुर्योधन तथा दुःशासन की मृत्यु पर उनका विलाप अत्यन्त कारुणिक था और भगवान् कृष्ण ने उन्हें दिव्य संदेश द्वारा सान्त्वना दी। वे कर्ण की मृत्यु से भी उतनी ही दुखी थीं और उन्होंने भगवान् कृष्ण से कर्ण की पत्नी का विलपना बतलाया। जब श्रील व्यासदेव ने उन्हें उनके मृत पुत्रों को दिखलाया, जिनकी बाद में स्वर्गलोक में उन्नति हुई, तब उन्हें सान्त्वना प्राप्त हुई। वे गंगा के मुहाने के निकट हिमालय के जंगलों में अपने पति के साथ मरीं; वे दावाग्नि में जल मरीं। महाराज युधिष्ठिर ने अपने चाचा तथा चाची का अन्तिम संस्कार किया।

पृथा—ये महाराज शूरसेन की पुत्री तथा भगवान् कृष्ण के पिता वसुदेव की बहन थीं। बाद में महाराज कुन्तिभोज ने उन्हें गोद ले लिया था, अतएव वे कुन्ती कहलाईं। वे भगवान् की विजया शक्ति की अवतार थीं। जब उच्चतर ग्रहमंडल से स्वर्ग के निवासी राजा कुन्तीभोज को मिलने के लिए आते थे, तो कुन्ती उनके स्वागत में लगी रहती थीं। उन्होंने महान् योगी दुर्वासा मुनि की भी सेवा की थी। दुर्वासा ने उनकी अच्छी सेवा से प्रसन्न होकर उन्हें एक मंत्र दिया, जिससे वे मनवांछित देवता का आवाहन कर सकती थीं। उन्होंने उत्सुकतावश तुरन्त ही सूर्यदेव का आवाहन किया, जिन्होंने उनके साथ समागम करना चाहा, किन्तु उन्होंने ऐसा करने से इनकार किया। लेकिन जब सूर्यदेव ने आश्वस्त किया कि इससे उनका कौमार्य भंग नहीं होगा, तो उन्होंने उनका प्रस्ताव मान लिया। इस समागम के कारण वे गर्भवती हो गईं और उनसे कर्ण का जन्म हुआ। सूर्य की कृपा से वे पुनः कुमारी कन्या में परिणत हो गईं लेकिन माता-पिता के भय से उन्होंने अपने नवजात शिशु, कर्ण का परित्याग कर दिया। तत्पश्चात् जब पति चुनने की बारी आई, तो उन्होंने स्वेच्छा से पाण्डु को पति-रूप में चुना। बाद में महाराज पाण्डु गृहस्थ जीवन त्याग कर संन्यास ग्रहण करना चाहते थे, किन्तु कुन्ती ने अपने पति को ऐसा नहीं करने दिया। अन्त में महाराज पाण्डु ने उन्हें अनुमति दे दी कि वे उपयुक्त महापुरुष का

आवाहन करके पुत्र प्राप्त कर सकती हैं। पहले कुन्ती ने यह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, लेकिन जब पाण्डु ने अनेक उपयुक्त दृष्टान्त प्रस्तुत किये, तो वे राजी हो गईं। इस तरह दुर्वासा मुनि द्वारा प्रदत्त मंत्र से उन्होंने धर्मराज का आवाहन किया, जिससे युधिष्ठिर का जन्म हुआ। इसके बाद उन्होंने वायुदेव का आवाहन किया, तो भीम उत्पन्न हुआ। उन्होंने स्वर्ग के राजा इन्द्र का आवाहन करने पर अर्जुन का जन्म हुआ। नकुल तथा सहदेव का जन्म स्वयं पाण्डु ने अश्विनीकुमारों द्वारा माद्री के गर्भ से कराया। बाद में जब महाराज पाण्डु अल्प आयु में ही दिवंगत हो गये, तो कुन्ती इतनी दुखी हुई कि उन्हें मूर्छा आ गई। तब कुन्ती तथा माद्री दोनों सह-पत्नियों ने यह निश्चय किया कि कुन्ती पाँचों अल्प-वयस्क बालकों, पाण्डवों को पालने के लिए जीवित रहें और माद्री अपने पति के साथ सती हों। वहाँ पर उपस्थित शतसृङ्ग तथा अन्य उपस्थित महर्षियों ने इस निर्णय का समर्थन किया।

बाद में जब दुर्योधन के षड्यंत्र से पाण्डवों को राज्य से बाहर निकाल दिया गया, तब कुन्ती अपने पुत्रों के साथ-साथ रहीं और उन दिनों में उन्होंने सारे कष्ट उठाये। वनवास के समय एक असुर कन्या हिडिम्बा ने भीम को पति बनाना चाहा। भीम ने इनकार कर दिया, किन्तु जब कन्या कुन्ती तथा युधिष्ठिर के पास पहुँची, तो उन्होंने भीम को आदेश दिया कि वह उसका प्रस्ताव स्वीकार करे और उसे पुत्र-प्रदान करे। इस संयोग से घटोत्कच का जन्म हुआ और उसने अपने पिता की ओर से कौरवों के विरुद्ध वीरतापूर्वक युद्ध किया। उनके वनवास-काल में सभी पाण्डव एक ब्राह्मण परिवार के साथ रहे, जो बकासुर राक्षस के कारण अत्यन्त व्यथित था। कुन्ती ने भीम को आदेश दिया कि वह बकासुर का वध करके ब्राह्मण परिवार को असुर के उत्पीड़नों से बचाए। उन्होंने युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे पांचाल देश के लिए प्रस्थान करें। इसी पांचाल देश में अर्जुन ने द्रौपदी को प्राप्त किया, लेकिन कुन्ती के आदेश से पाँचों भाई पांचाली या द्रौपदी के समान रूप से पति बने। वह व्यासदेव की उपस्थिति में पाँचों पाण्डवों के साथ ब्याही गईं। कुन्तीदेवी अपने प्रथम पुत्र कर्ण को कभी भी नहीं भूल पाईं। उन्होंने कुरुक्षेत्र-युद्ध में कर्ण की मृत्यु होने पर विलाप किया और अपने अन्य पुत्रों के समक्ष स्वीकार किया कि महाराज पाण्डु से विवाह करने के पूर्व ही कर्ण का जन्म हो चुका था। कुरुक्षेत्र-युद्ध के बाद, जब कृष्ण अपने घर वापस जाने लगे, तब तो उन्होंने जो प्रार्थनाएँ की, वे सर्वोत्कृष्ट हैं। बाद में वे गान्धारी

के साथ घोर तपस्या करने के लिए जंगल चली गई। वे प्रत्येक तीसवें दिन पर भोजन करतीं। अन्ततः वे ध्यान में लीन होकर, दावाग्नि में जलकर भस्म हो गईं।

द्रौपदी—ये महाराज द्रुपद की सर्वश्रेष्ठ सती पुत्री तथा इन्द्रपत्नी देवी शची की अंशावतार थीं। महाराज द्रुपद ने मुनि यज की अधीक्षता में एक महान् यज्ञ सम्पन्न किया। पहली आहुति के साथ धृष्टद्युम्न का जन्म हुआ, और द्वितीय आहुति से द्रौपदी जन्मीं। अतएव ये धृष्टद्युम्न की बहन हैं और पांचाली के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। पाँचों पाण्डवों ने इन्हें पत्नी के रूप में ब्याहा और हर एक पति से इन्हें एक-एक पुत्र प्राप्त हुआ। महाराज युधिष्ठिर से प्रतिभित, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकीर्ति, नकुल से शतानीक तथा सहदेव से श्रुतकर्मा का जन्म हुआ। ये अपनी सास कुन्ती के ही समान अत्यन्त सुन्दरी बताई गई हैं। इनके जन्म के समय आकाशवाणी हुई थी कि इनका नाम कृष्णा होगा। साथ ही यह भी आकाशवाणी हुई कि इनका जन्म कई क्षत्रियों का वध करने के लिए हुआ है। शंकर के आशीर्वाद से इन्हें एक से एक योग्य पाँच पति मिले। जब उन्होंने स्वयं अपना पति चुनना चाहा, तो विश्व भर के देशों के राजा तथा राजकुमार आमंत्रित किये गये। वह पाण्डवों के वनवास के समय पाण्डवों से विवाहित हुईं। किन्तु जब वे अपने घर वापस गये, तो महाराज द्रुपद ने उन्हें प्रचुर दहेज दिया। धृतराष्ट्र की सभी बहुओं ने द्रौपदी का स्वागत किया। जब वे जुए में हार दी गईं, तो उन्हें सभा-भवन में जबरन घसीट कर लाया गया और दुःशासन द्वारा नग्न किये जाने का यत्न किया गया, यद्यपि वहाँ पर भीष्म तथा द्रोण जैसे गुरुजन उपस्थित थे। वे भगवान् कृष्ण की परम भक्त थीं। उनकी प्रार्थना सुनकर, भगवान् ने स्वयं असीम वस्त्र बनाकर उन्हें अपमान से बचाया। जब जटायु नाम के राक्षस ने उनका अपहरण किया, तो भीमसेन ने उसका वध करके उनकी रक्षा की। उन्होंने भगवान् कृष्ण की कृपा से पाण्डवों को दुर्वासा मुनि के शाप से बचाया। जब पाण्डव विराट के राजमहल में अज्ञातवास कर रहे थे, तो कीचक उनके अपूर्व सौन्दर्य पर मोहित हो गया। तब भीमसेन की सहायता से इस दुष्ट का वध किया गया और इस तरह वे बच गईं। जब अश्वत्थामा ने उनके पाँचों पुत्रों का वध कर दिया, तो वे अत्यन्त शोकाकुल हुईं। अन्तिम अवस्था में वे अपने पति युधिष्ठिर तथा अन्यो के साथ स्वर्गारोहण के लिए गईं तथा मार्ग पर गिर गईं। युधिष्ठिर ने उनके गिरने का कारण बताया, किन्तु जब युधिष्ठिर स्वर्ग पहुँचे तो उन्होंने देखा कि लक्ष्मीदेवी के रूप में द्रौपदी वहाँ पहले से विद्यमान थीं।

सुभद्रा—वसुदेव की पुत्री तथा भगवान् श्रीकृष्ण की बहिन। ये न केवल वसुदेव की लाड़ली पुत्री थीं, अपितु श्रीकृष्ण तथा बलदेव की भी अत्यन्त प्रिय बहिन थीं। ये दोनों भाई तथा बहन, पुरी के सुप्रसिद्ध जगन्नाथ मन्दिर में मूर्तिमान हैं और आज भी नित्य हजारों तीर्थयात्री इस मन्दिर में दर्शन करते हैं। यह मन्दिर सूर्यग्रहण के अवसर पर भगवान् की कुरुक्षेत्र यात्रा तथा बाद में वृन्दावनवासियों से मिलने का स्मृति-स्वरूप है। इस अवसर पर राधा तथा कृष्ण का मिलन अत्यन्त कारुणिक है और पुरी में, भगवान् श्री चैतन्य राधारानी के भाव में, सदैव भगवान् श्रीकृष्ण के लिए लालायित रहते थे। जब अर्जुन द्वारका में थे, तो उन्होंने सुभद्रा को अपनी रानी बनाना चाहा और भगवान् श्रीकृष्ण से अपनी इच्छा व्यक्त की। श्रीकृष्ण जानते थे कि उनके बड़े भाई, बलदेव, सुभद्रा का विवाह अन्यत्र तय कर रहे हैं। चूँकि श्रीकृष्ण बलदेव द्वारा की जा रही व्यवस्था के विरुद्ध जाने का साहस नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने अर्जुन को सलाह दी कि वह उसका हरण कर ले। अतएव जब सारे लोग रैवत पर्वत पर आनन्द मनाने गये थे, तो अर्जुन ने कृष्ण की योजना के अनुसार, सुभद्रा का हरण कर लिया। इस पर बलदेव अर्जुन पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए और वे उन्हें मार डालना चाहते थे, किन्तु कृष्ण ने बड़े भाई से अनुनय-विनय की कि वे अर्जुन को क्षमा-दान दें। तब अर्जुन के साथ सुभद्रा का विधिवत् ब्याह हुआ और सुभद्रा से अभिमन्यु का जन्म हुआ। अभिमन्यु की अकाल मृत्यु से सुभद्रा अत्यन्त दुखी थीं, किन्तु परीक्षित के जन्म से वे सुखी तथा संतुष्ट हुई।

प्रत्युज्जग्मुः प्रहर्षेण प्राणं तन्व इवागतम् ।

अभिसङ्गम्य विधिवत् परिष्वङ्गाभिवादनैः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

प्रति—की ओर; उज्जग्मुः—गया; प्रहर्षेण—अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक; प्राणम्—जीवन, प्राण; तन्वः—शरीर का; इव—सदृश; आगतम्—वापस आया; अभिसङ्गम्य—निकट जाकर; विधि-वत्—अच्छी तरह से; परिष्वङ्ग—आलिंगन; अभिवादनैः—अभिवादन (प्रणाम) द्वारा ।

वे सब परम प्रसन्नतापूर्वक उनके निकट गये, मानो उनके शरीरों में फिर से प्राण का संचार हुआ हो। उन्होंने एक दूसरे को प्रणाम किया और गले मिलते हुए एक दूसरे का स्वागत किया।

तात्पर्य : चेतना के अभाव में शरीर के अंग निष्क्रिय रहते हैं, लेकिन जब चेतना वापस आती है, तो अंग तथा इन्द्रियाँ सक्रिय हो उठती हैं और जीव हर्षित हो उठता है। कौरव-परिवार के लिए विदुर

इतने प्रिय थे कि राजमहल में उनकी अनुपस्थिति की तुलना निष्क्रियता से की गई थी। सभी लोग उनके तीव्र वियोग का अनुभव कर रहे थे। अतएव राजमहल में उनका वापस आना सभी के लिए आनन्ददायक था।

मुमुचुः प्रेमबाष्पौघं विरहौत्कण्ठ्यकातराः ।

राजा तमर्हयाञ्चक्रे कृतासनपरिग्रहम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मुमुचुः—छोड़ा; प्रेम—प्रेम के; बाष्प-ओघम्—भावुकता के अश्रु; विरह—वियोग; औत्कण्ठ्य—उत्कण्ठा, उत्सुकता; कातराः—दुखी; राजा—राजा युधिष्ठिर; तम्—उसको (विदुर को); अर्हयाम् चक्रे—प्रदान किया; कृत—किया गया; आसन—बैठने का स्थान; परिग्रहम्—व्यवस्था।

चिन्ता तथा लम्बे वियोग के कारण, वे सब प्रेम-विवश होकर रूदन करने लगे। तब राजा युधिष्ठिर ने उनके बैठने के लिए आसन की व्यवस्था की और उनका सत्कार किया।

तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमासीनं सुखमासने ।

प्रश्रयावनतो राजा प्राह तेषां च शृण्वताम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (विदुर को); भुक्तवन्तम्—ठीक से भोजन कराकर; विश्रान्तम्—तथा विश्राम कराके; आसीनम्—बैठाकर; सुखम् आसने—सुखद आसन पर; प्रश्रय-अवनतः—स्वाभाविक रूप से अत्यन्त भद्र तथा विनीत; राजा—राजा युधिष्ठिर ने; प्राह—बोलना प्रारम्भ किया; तेषाम् च—तथा उनके द्वारा; शृण्वताम्—सुना जाकर।

जब विदुर ठीक से भोजन कर चुके और पर्याप्त विश्राम कर लेने पर उन्हें सुखदायक आसन पर बिठाया गया। तब राजा ने उनसे बोलना शुरू किया और वहाँ पर उपस्थित सारे लोग सुनने लगे।

तात्पर्य : राजा युधिष्ठिर अपने पारिवारिक सदस्य तक का स्वागत करने में पटु थे। सभी पारिवारिक सदस्यों ने विदुर का गले मिलते हुए तथा अभिवादन द्वारा सत्कार किया। तत्पश्चात् स्नान एवं समुचित भोजन की व्यवस्था की। फिर पर्याप्त विश्राम करने दिया गया। विश्राम के बाद उन्हें बैठने के लिए सुखद आसन प्रदान किया गया। तब राजा ने परिवार की तथा अन्य विषयों की बातें शुरू कीं। प्रिय मित्र या यहाँ तक कि शत्रु के भी स्वागत की यही उचित विधि है। भारतीय नीतिशास्त्र के अनुसार, घर आये शत्रु का भी इस तरह स्वागत होना चाहिए कि उसे भय की प्रतीति न हो। शत्रु सदैव अपने

शत्रु से भयभीत रहता है, किन्तु जब शत्रु के घर कोई शत्रु आए, तो ऐसा नहीं होना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि घर आये व्यक्ति का कुटुम्बी के समान सत्कार होना चाहिए; तो विदुर जैसे कुटुम्बी का कहना ही क्या, जो परिवार के सभी सदस्यों के शुभचिन्तक थे। इस प्रकार महाराज युधिष्ठिर अन्य सभी सदस्यों की उपस्थिति में विदुर से बोले।

युधिष्ठिर उवाच

अपि स्मरथ नो युष्मत्पक्षच्छायासमेधितान् ।

विपद्गणाद्विषाग्न्यादेर्मोचिता यत्समातृकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; अपि—क्या; स्मरथ—आपको स्मरण है; नः—हमको; युष्मत्—आपसे; पक्ष—पक्षियों के पंखों सदृश हमारे प्रति पक्षपात; छाया—संरक्षण; समेधितान्—आपके द्वारा पाले गये हम सबों द्वारा; विपद्-गणात्—विभिन्न प्रकार की विपत्तियों से; विष—विष-रूप शासन द्वारा; अग्नि-आदेः—अग्नि-काण्ड आदि से; मोचिताः—छुटकारा दिलाया; यत्—आपने जो किया; स—सहित; मातृकाः—हमारी माता।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे चाचा, क्या आपको याद है कि आपने किस तरह सदा हमारी माता तथा हम सबकी समस्त प्रकार की विपत्तियों से रक्षा की है? आपके पक्षपात ने, पक्षियों के पंखों के समान, हमें विष-पान तथा अग्निदाह से बचाया है।

तात्पर्य : अल्पायु में ही पाण्डु की मृत्यु हो जाने से उनके छोटे-छोटे पुत्र तथा विधवा स्त्री परिवार के ज्येष्ठ सदस्यों द्वारा, विशेष रूप से भीष्मदेव तथा महात्मा विदुर द्वारा, संरक्षण प्राप्त करते रहे। पाण्डवों की राजनीतिक स्थिति के कारण विदुर उनका थोड़ा-बहुत पक्षपात करते रहते थे। यद्यपि धृतराष्ट्र भी महाराज पाण्डु के छोटे-छोटे बालकों के प्रति समान रूप से सचेष्ट रहते थे, लेकिन वे उन षड्यंत्रकारी दलों में से एक थे, जो पाण्डु के वंशजों का नामोनिशान मिटा देना चाहते थे और उनके स्थान पर अपने पुत्रों को राज्य का शासक बनाना चाहते थे। महाराज विदुर धृतराष्ट्र तथा उनके दल के इस षड्यंत्र को समझते थे। अतएव अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र के आज्ञाकारी सेवक होते हुए भी उन्हें उनकी यह राजकीय महत्वाकांक्षा, जो अपने पुत्रों के निमित्त थी, पसन्द नहीं थी। अतएव वे पाण्डवों एवं उनकी विधवा माता की सुरक्षा के प्रति अत्यधिक सावधान रहते थे। इस प्रकार कह सकते हैं कि वे पाण्डवों के पक्षपाती थे और उन्हें धृतराष्ट्र के पुत्रों से अधिक चाहते थे, यद्यपि सामान्य दृष्टि से वे दोनों ही उन्हें प्रिय थे। वे अपने भतीजों के दोनों दलों के प्रति इस तरह समान-वत्सल थे, फिर भी

अपने चचेरे भाइयों के प्रति षड्यंत्र करने की नीति के लिए वे दुर्योधन को सदैव प्रताड़ित करते रहते थे। वे अपने अग्रज की आलोचना अपने पुत्रों को बढ़ावा देने की नीति के लिए करते रहते, किन्तु साथ ही पाण्डवों को विशेष संरक्षण प्रदान करने के प्रति सदैव सतर्क रहते। राजमहल के भीतर विदुर के ये सारे कार्यकलाप उन्हें पाण्डवों का पक्षपाती घोषित करनेवाले थे। महाराज युधिष्ठिर ने विदुर के घर से दीर्घकालीन तीर्थाटन के लिए जाने के पूर्व के विगत इतिहास का उल्लेख किया है। महाराज युधिष्ठिर ने उन्हें याद दिलाई कि वे कुरुक्षेत्र-युद्ध जैसी घोर पारिवारिक दुर्घटना के बाद भी अपने बड़े हो चुके भतीजों के प्रति कितने दयालु तथा पक्षपाती बने रहे।

कुरुक्षेत्र-युद्ध के पूर्व, धृतराष्ट्र की नीति यह थी कि वह अपने भतीजों का सफाया शान्तिपूर्ण ढंग से कर दे, अतएव उसने पुरोचन को आज्ञा दी कि वह वारणावत में एक महल निर्मित करे और जब वह महल बन कर तैयार हो गया, तो धृतराष्ट्र ने इच्छा व्यक्त की कि उसके भाई का परिवार वहाँ कुछ काल तक रहे। जब सारे पाण्डव राजकुल के अन्य सदस्यों की उपस्थिति में वहाँ जा रहे थे, तो विदुर ने अत्यन्त चालाकी से पाण्डवों को धृतराष्ट्र की भावी योजना की जानकारी दी। इसका विशेष वर्णन *महाभारत* (आदिपर्व ११४) में हुआ है। उन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें संकेत दिया—“ऐसा अस्त्र जो इस्पात या किसी अन्य धातु का न बना हो वह इतना तेज हो सकता है कि शत्रु का वध कर दे। किन्तु जो यह जानता है, वह कभी मारा नहीं जाता।” कहने का तात्पर्य यह था कि उन्होंने संकेत कर दिया कि पाण्डवों को वारणावत इसलिए भेजा जा रहा है कि उनका वध किया जा सके। इस तरह उन्होंने युधिष्ठिर को सचेत किया कि वे नये आवास-महल में अत्यन्त सतर्क रहें। उन्होंने अग्नि का भी संकेत किया और कहा कि अग्नि आत्मा का दहन नहीं कर सकती, लेकिन भौतिक शरीर को विनष्ट कर सकती है। किन्तु जो आत्मा की रक्षा करता है, वह जीवित रह सकता है। महाराज युधिष्ठिर तथा विदुर के ऐसे वार्तालाप को कुन्ती नहीं समझ पाई, अतएव जब उन्होंने अपने पुत्र से उस वार्तालाप का भावार्थ जानना चाहा, तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि विदुर की बातों से लग रहा है कि हम लोग जहाँ रहने जा रहे हैं, उस भवन में अग्नि लगने का संकेत है। बाद में, विदुर अपना वेश बदल कर पाण्डवों के पास पहुँचे और उन्हें सूचित किया कि शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को द्वारपाल महल में आग लगाएगा। यह धृतराष्ट्र का षड्यंत्र था कि पाण्डव अपनी माता समेत एकसाथ मर जाएँ। उनके सचेत करने से, पाण्डव

पृथ्वी के नीचे बनी सुरंग के द्वारा बच निकले, किन्तु उनके बचने का समाचार धृतराष्ट्र को ज्ञात न हो सका, यहाँ तक कि अग्नि लगने के बाद, सारे कौरव पाण्डवों की मृत्यु के प्रति इतने आश्चस्त थे कि धृतराष्ट्र ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उनके अन्तिम संस्कार भी सम्पन्न कर डाले तथा शोक की अवधि में महल के सारे सदस्य शोक-मग्न थे, किन्तु विदुर ने शोक नहीं मनाया, क्योंकि उन्हें पता था कि सारे पाण्डव कहीं पर जीवित हैं। विपत्तियों के ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं और उन सबों में विदुर ने एक ओर जहाँ पाण्डवों को संरक्षण प्रदान किया, तो दूसरी ओर, वे अपने भाई धृतराष्ट्र को ऐसी षड्यंत्रकारी नीतियों से रोकते रहे। इसलिए वे पाण्डवों के प्रति उसी तरह पक्षपात करते रहे, जिस प्रकार पक्षी अपने पंख से अंडों की रक्षा करता है।

कया वृत्त्या वर्तितं वश्चरद्भिः क्षितिमण्डलम् ।

तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कया—किन; वृत्त्या—साधनों से; वर्तितम्—जीविका चलाते रहे; वः—आप; चरद्भिः—विचरण करते हुए; क्षिति-मण्डलम्—पृथ्वी पर; तीर्थानि—तीर्थ-स्थानों; क्षेत्र-मुख्यानि—प्रमुख पवित्र स्थानों; सेवितानि—आपके द्वारा सेवित; इह—इस संसार में; भूतले—इस ग्रह में।

पृथ्वी पर विचरण करते हुए, आपने अपनी जीविका कैसे चलाई? आपने किन-किन पवित्र स्थलों तथा तीर्थस्थानों पर सेवा की?

तात्पर्य : विदुर राजमहल से बाहर इसलिए चले गये थे, क्योंकि वे अपने को घरेलू मामलों से, विशेष रूप से राजनीतिक षड्यंत्रों से विलग करना चाह रहे थे। जैसाकि इसके पूर्व उल्लेख किया जा चुका है, दुर्योधन उन्हें शूद्राणी-पुत्र कहकर उनका एक तरह से अपमान कर चुका था, यद्यपि किसी की पितामही (दादी) के विषय में अनाप-शनाप बातें करना कोई नई बात नहीं है। विदुर की माता शूद्राणी होते हुए भी, दुर्योधन की दादा लगती थी और कभी-कभी दादी तथा नातियों के बीच ऐसा मजाक चलता है। चूँकि यह छींटाकशी एक वास्तविकता थी, अतएव विदुर को बुरी लगनेवाली थी; फलतः इसे प्रत्यक्ष अपमान के रूप में ग्रहण किया गया। फलस्वरूप, विदुर ने तय किया कि वे अपना पैतृक महल त्याग कर, विरक्त जीवन बिताने की तैयारी करेंगे। यह तैयारी की अवस्था वानप्रस्थ आश्रम कहलाती है, अर्थात् ऐसा विरक्त जीवन जिसमें पृथ्वी भर में विचरण करके तीर्थस्थलों का दर्शन किया

जाता है। भारत में वृन्दावन, हरिद्वार, जगन्नाथपुरी तथा प्रयाग जैसे तीर्थस्थलों में अनेक महान् भक्त हैं और जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं, उनके लिए वे मुफ्त अन्नक्षेत्र (लंगर) चलाये जाते हैं। महाराज युधिष्ठिर यह जानने के लिए उत्सुक थे कि क्या विदुर अपना जीवन-निर्वाह ऐसे अन्नक्षेत्रों (छत्र) से कर रहे थे ?

भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो ।

तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भवत्—आप; विधाः—जैसे; भागवताः—भक्त; तीर्थ—तीर्थयात्रा के पवित्र स्थल; भूताः—बने हुए; स्वयम्—अपने आप; विभो—हे शक्तिमान; तीर्थी-कुर्वन्ति—तीर्थस्थान बनाते हैं; तीर्थानि—तीर्थस्थल; स्व-अन्तः-स्थेन—हृदय में स्थित होकर; गदा-भृता—भगवान् के ।

हे प्रभु, आप जैसे भक्त, निश्चय ही, साक्षात् पवित्र स्थान होते हैं। चूँकि आप भगवान् को अपने हृदय में धारण किए रहते हैं, अतएव आप समस्त स्थानों को तीर्थस्थानों में परिणत कर देते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण सर्वव्यापी हैं, जिस प्रकार बिजली सर्वत्र फैली हुई रहती है। भगवान् की सर्वव्यापकता का अनुभव तथा उसका प्राकट्य उसी प्रकार विदुर जैसे अनन्य भक्तों द्वारा किया जाता है, जिस प्रकार बिजली के बल्ब में बिजली प्रकट होती है। विदुर जैसा शुद्ध भक्त भगवान् की उपस्थिति को सर्वत्र अनुभव करता है। वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति में देखता है और भगवान् को प्रत्येक वस्तु में। पृथ्वी पर जितने भी पवित्र स्थान हैं, वे भगवान् के अनन्य भक्तों की उपस्थिति से परिपूरित वातावरण द्वारा मनुष्य की दूषित चेतना को शुद्ध बनाने के निमित्त हैं। यदि कोई इन पवित्र स्थानों में जाता है, तो उसे चाहिए कि वहाँ रहनेवाले शुद्ध भक्तों को खोजे, उनसे शिक्षा ग्रहण करें, उस शिक्षा को व्यावहारिक जीवन में उतारे और इस तरह धीरे-धीरे अपने आपको मोक्ष के लिए, या भगवद्-धाम वापस जाने के लिए तैयार करे। किसी पवित्र स्थान में जाने का अर्थ मात्र गंगा या यमुना नदी में स्नान करना या उन स्थानों के मन्दिरों का दर्शन करना नहीं होता। उसे विदुर जैसे प्रतिनिधियों को खोजना चाहिए, जिन्हें भगवान् की सेवा करने के अतिरिक्त जीवन में अन्य कोई आकांक्षा नहीं होती। भगवान् सदा से ऐसे शुद्ध भक्तों के साथ रहते हैं, क्योंकि उनकी अनन्य सेवा,

सकाम कर्म या व्यर्थ चिन्तन से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होती। वे भगवान् की असली सेवा में, विशेष रूप से श्रवण तथा कीर्तन के माध्यम से लगे रहते हैं। शुद्ध भक्त प्राधिकारियों से श्रवण करते हैं, कीर्तन करते हैं और भगवान् की महिमाओं का लेखन करते हैं। महामुनि व्यासदेव ने नारद से सुना था और तब उन्होंने लिखकर कीर्तन किया; शुकदेव गोस्वामी ने अपने पिता से शिक्षा ग्रहण की और परीक्षित से उसका वर्णन किया, *श्रीमद्भागवत* की यही विधि है। इस तरह भगवान् के शुद्ध भक्त अपने कार्यों से किसी भी स्थान को तीर्थस्थल में बदल सकते हैं और तीर्थस्थलों का नाम उन्हीं के कारण होता है। ऐसे शुद्ध भक्त किसी भी स्थान के दूषित वातावरण को शुद्ध करने में समर्थ होते हैं। तो ऐसे पवित्र स्थान की तो बात ही क्या है, जो उन स्वार्थी व्यक्तियों के सन्देहास्पद कार्यों द्वारा अपवित्र हो रहा हो, जो ऐसे पवित्र स्थान की प्रसिद्धि की परवाह न करते हुए अपना धन्धा चलाते हैं।

अपि नः सुहृदस्तात बान्धवाः कृष्णदेवताः ।

दृष्टाः श्रुता वा यदवः स्वपुर्या सुखमासते ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अपि—क्या; नः—हमारे; सुहृदः—शुभचिन्तक; तात—हे चाचा; बान्धवाः—मित्र; कृष्ण-देवताः—भगवान् कृष्ण की सेवा में सदैव तत्पर रहनेवाले; दृष्टाः—उन्हें देखकर; श्रुताः—या उनके विषय में सुनकर; वा—अथवा; यदवः—यदुवंशी लोग; स्व-पुर्याम्—अपने-अपने निवास-स्थानों में; सुखम् आसते—सुखी तो हैं।

हे चाचा, आप द्वारका भी गये होंगे? उस पवित्र स्थान में यदुवंशी हमारे मित्र तथा शुभचिन्तक हैं, जो नित्य ही भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में तत्पर रहते हैं। आप उनसे मिले होंगे अथवा उनके विषय में सुना होगा? वे अपने-अपने घरों में सुखपूर्वक रह रहे हैं न?

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त विशिष्ट शब्द *कृष्ण देवताः* महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है, वे जो सदैव भगवान् कृष्ण की सेवा में लगे रहते हैं। यादव तथा पाण्डव, जो सदा ही भगवान् कृष्ण एवं उनकी विभिन्न दिव्य लीलाओं के विचार में मग्न रहते थे, वे सबके सब विदुर के ही समान भगवान् के शुद्ध भक्त थे। विदुर ने इसीलिए गृहत्याग किया था, जिससे वे पूर्णतया भगवान् की सेवा में लग सकें, किन्तु सारे पाण्डव तथा यादव तो सदा ही कृष्ण के विचार में डूबे रहते थे। अतएव उनके शुद्ध भक्ति-गुणों में कोई अन्तर नहीं है। शुद्ध भक्त, चाहे घर में रहे या घर छोड़ दे, उसका वास्तविक गुण तो कृष्ण के विचार में अनुकूल रूप से मग्न रहना होता है अर्थात् भलीभाँति यह जानना कि श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् हैं। यद्यपि कंस, जरासंध, शिशुपाल तथा उन्हीं जैसे अन्य असुर भी भगवान् कृष्ण के विचार में सदैव निमग्न रहते थे, किन्तु वे भिन्न प्रकार से—प्रतिकूल होकर—निमग्न रहते थे या उन्हें केवल शक्तिशाली मनुष्य मानते थे। अतएव कंस तथा शिशुपाल को शुद्ध भक्तों का वह पद प्राप्त नहीं है, जो विदुर, पाण्डवों तथा यादवों जैसे शुद्ध भक्तों को प्राप्त है।

महाराज युधिष्ठिर भी भगवान् कृष्ण तथा उनके द्वारका के पार्षदों के विचार में सदैव निमग्न रहा करते थे। अन्यथा, वे विदुर से उन सबके विषय में न पूछते। अतएव महाराज युधिष्ठिर विश्व के राज्य के मामलों में लगे रहकर भी, विदुर के समान भक्ति-पद पर स्थित थे।

इत्युक्तो धर्मराजेन सर्वं तत् समवर्णयत् ।
यथानुभूतं क्रमशो विना यदुकुलक्षयम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्तः—पूछे जाने पर; धर्म-राजेन—राजा युधिष्ठिर द्वारा; सर्वम्—सब कुछ; तत्—यह; समवर्णयत्—ठीक से वर्णन किया; यथा-अनुभूतम्—जैसा उसने अनुभव किया था; क्रमशः—एक के बाद एक; विना—रहित; यदु-कुल-क्षयम्—यदुवंश का विनाश।

महाराज युधिष्ठिर द्वारा इस तरह पूछे जाने पर महात्मा विदुर ने क्रमशः सब कुछ कह सुनाया, जिसका उन्होंने स्वयं अनुभव किया था। केवल यदुवंश के विनाश की बात उन्होंने नहीं कही।

नन्वप्रियं दुर्विषहं नृणां स्वयमुपस्थितम् ।
नावेदयत् सकरुणो दुःखितान् द्रष्टुमक्षमः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ननु—निश्चय ही; अप्रियम्—अप्रिय; दुर्विषहम्—असह्य; नृणाम्—मानव जाति का; स्वयम्—अपने ढंग से; उपस्थितम्—प्राकट्य; न—नहीं; आवेदयत्—व्यक्त किया; सकरुणः—दयामय; दुःखितान्—दुखी जनों को; द्रष्टुम्—देखने के लिए; अक्षमः—असमर्थ।

दयावान महात्मा विदुर पाण्डवों को कभी भी दुखी नहीं देख सकते थे। अतएव उन्होंने इस अप्रिय तथा असह्य घटना को प्रकट नहीं होने दिया, क्योंकि आपदाएँ तो अपने आप आती हैं।

तात्पर्य : नीतिशास्त्र के अनुसार, ऐसा अप्रिय सत्य नहीं कहना चाहिए, जिससे अन्यो को कष्ट हो। विपदा सदैव प्रकृति के नियमानुसार स्वतः आती है। अतएव इसका प्रचार करते हुए इसे अधिक उभारना नहीं चाहिए। विदुर जैसे दयावान व्यक्ति के लिए, विशेष रूप से प्रिय पाण्डवों के साथ व्यवहार

करते हुए, यदुवंश के विनाश जैसी अप्रिय घटना को उद्घाटित करना प्रायः असम्भव था। इसीलिए उन्होंने जानबूझ कर ऐसा नहीं किया।

कञ्चित्कालमथावात्सीत्सत्कृतो देववत्सुखम् ।

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य श्रेयस्कृत्सर्वेषां सुखमावहन् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

कञ्चित्—कुछ दिनों तक; कालम्—समय; अथ—इस प्रकार; अवात्सीत्—रहते रहे; सत्-कृतः—सम्मानित होने पर; देव-वत्—दैवी व्यक्ति के समान; सुखम्—सुविधाएँ; भ्रातुः—भाई का; ज्येष्ठस्य—बड़े भाई का; श्रेयः-कृत्—उनके प्रति अच्छाई करने के कारण; सर्वेषाम्—आप सबों का; सुखम्—सुख; आवहन्—सम्भव बनाया।

इस प्रकार अपने कुटुम्बियों द्वारा देवतुल्य सम्मानित होकर, महात्मा विदुर कुछ काल तक अपने बड़े भाई की मनोदशा को ठीक करने के लिए तथा इस प्रकार अन्य सबों को सुख देने के लिए वहाँ पर रहते रहे।

तात्पर्य : विदुर जैसे महात्मा पुरुषों का सत्कार स्वर्ग के निवासियों जैसा होना चाहिए। उन दिनों, स्वर्ग के निवासी महाराज युधिष्ठिर जैसे लोगों के घरों में आया करते थे और कभी-कभी अर्जुन जैसे व्यक्ति स्वर्ग-लोक की यात्रा किया करते थे। नारद तो ऐसे अन्तरिक्ष-यात्री हैं, जो बिना रोक-टोक के न केवल भौतिक ब्रह्माण्डों में, अपितु आध्यात्मिक लोकों में भी विचरण कर सकते हैं। नारद भी महाराज युधिष्ठिर के महलों में आते जाते थे, तो फिर अन्य देवताओं के विषय में कहना ही क्या। सम्बद्ध लोगों की आध्यात्मिक संस्कृति से ही, विभिन्न लोकों के मध्य इसी शरीर से यात्रा कर पाना सम्भव है। अतएव महाराज युधिष्ठिर ने विदुर का वैसा ही सत्कार किया, जैसा देवताओं का किया जाता है।

महात्मा विदुर पहले ही वानप्रस्थ जीवन स्वीकार कर चुके थे। अतएव वे अपने पैतृक महल में भी कोई भौतिक सुख भोगने नहीं आये थे। उन्होंने अपनी कृपा से ही महाराज युधिष्ठिर द्वारा अर्पित सेवाभाव का स्वीकार किया, लेकिन उस महल में रहने का एकमात्र उद्देश्य अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का उद्धार करना था, जो सांसारिकता में अत्यधिक आसक्त थे। धृतराष्ट्र ने महाराज युधिष्ठिर से युद्ध करके अपना सारा राजपाट तथा सारे वंशज खो दिये थे; तो भी अपनी असहाय अवस्था के कारण वे महाराज युधिष्ठिर का दान तथा आतिथ्य ग्रहण करने में लज्जा का अनुभव नहीं कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिर के

लिए यह बिल्कुल उचित था कि वे अपने तारु को समुचित ढंग से रख रहे थे, किन्तु इस प्रकार का भव्य आतिथ्य धृतराष्ट्र के लिए स्वीकार करना उचित न था। उन्होंने इसे स्वीकार कर रखा था, क्योंकि उन्होंने सोचा कि अन्य कोई विकल्प न था। विदुर वहाँ पर विशेष रूप से धृतराष्ट्र को प्रबुद्ध करने तथा उन्हें उच्चतर आध्यात्मिक अनुभूति प्राप्त कराने के उद्देश्य से ही आये थे। प्रबुद्ध व्यक्तियों का यह कर्तव्य है कि वे पतिततात्माओं का उद्धार करें और विदुर इसी उद्देश्य से आये थे। किन्तु आध्यात्मिक प्रबोध की बातें इतनी सुहावनी होती हैं कि जब विदुर धृतराष्ट्र को उपदेश दे रहे थे, तो परिवार के सारे सदस्य उनकी ओर आकृष्ट हो गये और सबों ने धैर्यपूर्वक उनकी बातें सुनने में आनन्द का अनुभव किया। आध्यात्मिक अनुभूति की यही विधि है। सन्देश को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए और यदि किसी अनुभूत व्यक्ति द्वारा यह सन्देश दिया जाता है, तो यह बद्धजीव के सुप्त हृदय पर प्रभाव डालता है। और निरन्तर श्रवण करते रहने से मनुष्य आत्म-साक्षात्कार की पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर सकता है।

अबिभ्रदर्यमा दण्डं यथावदघकारिषु ।

यावद्धार शूद्रत्वं शापाद्वर्षशतं यमः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

अबिभ्रत्—दिया गया; अर्यमा—अर्यमा; दण्डम्—दण्ड; यथावत्—समुचित; अघ-कारिषु—पाप करनेवालों को; यावत्—जब तक; धार—स्वीकार किया; शूद्रत्वम्—शूद्र का शरीर; शापात्—शाप के फलस्वरूप; वर्ष-शतम्—सौ वर्षों तक; यमः—यमराज।

मण्डूक मुनि के द्वारा शापित होकर, जब तक विदुर शूद्र का शरीर धारण किये रहे, तब तक पाप कर्म करने वालों को दण्डित करने के लिए यमराज के पद पर अर्यमा कार्य करते रहे।

तात्पर्य : विदुर शूद्र स्त्री के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण, अपने भाइयों—धृतराष्ट्र तथा पाण्डु के साथ राज्य के उत्तराधिकार से भी वंचित थे; तो भला वे धृतराष्ट्र तथा महाराज युधिष्ठिर जैसे विद्वान राजाओं एवं क्षत्रियों के शिक्षक पद पर कैसे रह सकते थे? इसका पहला उत्तर यह है कि यद्यपि वे जन्म से शूद्र माने जाते थे, लेकिन चूँकि उन्होंने ऋषि मैत्रेय के आदेशानुसार आध्यात्मिक उन्नति के लिए संसार का परित्याग कर दिया था और उनसे आध्यात्मिक शिक्षा प्राप्त की थी, अतएव वे आचार्य पद को ग्रहण करने के लिए पूर्णतया सक्षम थे। श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुसार कोई भी व्यक्ति, जो दिव्य ज्ञान या ईश-तत्त्व में निपुण है, वह चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र, गृहस्थ हो या संन्यासी, गुरु होने के लिए

योग्य है। यहाँ तक कि सामान्य नीतिशास्त्र में (महान् राजनीतिज्ञ तथा नीतिविद् चाणक्य पंडित के मतानुसार) शूद्र से भी निम्न व्यक्ति से शिक्षा ग्रहण करने में कोई हानि नहीं मानी गई। यह उत्तर का एक अंश हुआ। दूसरा अंश यह है कि विदुर वास्तव में शूद्र न थे। उन्हें मण्डूक मुनि के शाप के कारण, एक सौ वर्षों तक शूद्र की भूमिका निभानी थी। वे यमराज के अवतार थे, जो बारह महाजनों में से एक थे और ब्रह्मा, नारद, शिव, कपिल, भीष्म, प्रह्लाद इत्यादि महापुरुषों के समान उच्च पद पर थे। महाजन होने के कारण, यमराज का कर्तव्य है कि वे विश्व के लोगों को भक्ति सम्प्रदाय का उसी प्रकार उपदेश दें जिस प्रकार नारद, ब्रह्मा तथा अन्य महाजन करते हैं। किन्तु यमराज सदैव अपने राज्य में पापकर्म करनेवालों को दण्ड देने के कार्य में ही व्यस्त रहते हैं। भगवान् ने यमराज को एक विशेष ग्रह के लिए, जो पृथ्वी से कुछ लाखों मील दूरी पर स्थित है, नियुक्त किया है, जहाँ वे मृत्यु के बाद भ्रष्ट जीवात्माओं को ले जाकर उनके पाप कर्मों के अनुसार दण्ड दें। अतएव यमराज को दुष्कर्म करनेवालों को दण्ड देने के उत्तरदायी काम से ही फुरसत नहीं मिल पाती। दुष्कर्म करनेवालों की संख्या सत्कर्मियों से अधिक है। अतएव यमराज को भगवान् द्वारा अधिकृत अन्य देवों की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है। लेकिन यमराज तो भगवान् की महिमा का उपदेश देना चाहते थे। अतएव भगवत् इच्छा से मण्डूक मुनि के शाप के कारण, उन्हें विदुर के अवतार रूप में इस पृथ्वी पर आने का मौका मिला और महान् भक्त की तरह निरन्तर भगवान् की सेवा में जुटने का मौका मिला। ऐसा भक्त न तो शूद्र होता है, न ब्राह्मण। वह संसारी समाज के ऐसे विभाजन से परे होता है, जिस प्रकार भगवान् शूकर के रूप में अवतरित होकर भी न तो शूकर हैं, न ही ब्रह्मा हैं। वे समस्त संसारी प्राणियों के ऊपर हैं। कभी-कभी, भगवान् तथा उनके विभिन्न अधिकृत भक्तों को बद्धजीवों के उद्धार हेतु निम्नतर प्राणियों की भूमिका अदा करनी पड़ती है, किन्तु भगवान् तथा उनके शुद्ध भक्त दोनों सदैव दिव्य पद पर बने रहते हैं। जब यमराज इस तरह विदुर के रूप में अवतरित हुए, तो कश्यप तथा अदिति के अनेक पुत्रों में से एक, अर्यमा ने यह पद सँभाला। आदित्यगण अदिति के पुत्र हैं और आदित्यों की संख्या बारह है। अर्यमा इन बारह आदित्यों में से एक है। अतएव विदुर की अनुपस्थिति में सौ वर्षों तक यमराज के कार्यभार को सँभालने के लिए अर्यमा का चुनाव ठीक ही था। निष्कर्ष यह है कि विदुर कभी भी शूद्र न थे, वे तो शुद्धतम ब्राह्मण से भी महान् थे।

युधिष्ठिरो लब्धराज्यो दृष्ट्वा पौत्रं कुलन्धरम् ।
भ्रातृभिलोकपालाभैर्मुमुदे परया श्रिया ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः—युधिष्ठिर ने; लब्ध-राज्यः—अपने पैतृक राज्य का अधिकारी होकर; दृष्ट्वा—देखकर; पौत्रम्—नाती को; कुलम्-धरम्—वंश के अनुकूल; भ्रातृभिः—भाइयों से; लोक-पालाभैः—जो सभी पटु प्रशासक थे; मुमुदे—जीवन का भोग किया; परया—असामान्य; श्रिया—ऐश्वर्य से।

अपना राज्य वापस पाकर तथा एक ऐसे पौत्र का जन्म देखकर, जो उनके परिवार की प्रशस्त परम्परा को आगे चलाने में सक्षम था, महाराज युधिष्ठिर ने शान्तिपूर्वक शासन चलाया और उन छोटे भाइयों के सहयोग से, जो सारे के सारे कुशल प्रशासक थे, असामान्य ऐश्वर्य का भोग किया।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन दोनों ही, कुरुक्षेत्र युद्ध के शुरू होने के दिन से ही अप्रसन्न थे, किन्तु युद्ध में स्वजनों को मारने की अनिच्छा होते हुए भी, उन्हें उसे कर्तव्य समझकर करना पड़ रहा था, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण की परम इच्छा से इसकी योजना की गई थी। युद्ध के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ऐसे सामूहिक संहार से दुखी थे। एक तरह पाण्डवों के बाद कुरु वंश को चलानेवाला कोई नहीं था। यदि एक मात्र आशा शेष थी, तो वह पुत्रवधू उत्तरा के गर्भ में स्थित बालक था और उस पर भी अश्वत्थामा ने हमला कर दिया था, किन्तु भगवान् की कृपा से वह बालक बच गया था। अतएव सभी उपद्रवों के शान्त होने पर तथा राज्य में शान्ति स्थापित होने पर और एकमात्र बचे हुए बालक परीक्षित को देखकर युधिष्ठिर सन्तुष्ट थे और सदैव क्षणिक और भ्रांत करने वाले भौतिक सुख के प्रति आकर्षण न होने पर भी मानव होने के कारण, उन्हें कुछ चैन मिला था।

एवं गृहेषु सक्तानां प्रमत्तानां तदीहया ।
अत्यक्रामदविज्ञातः कालः परमदुस्तरः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; गृहेषु—घरेलू मामलों में; सक्तानाम्—अत्यन्त आसक्त पुरुषों के; प्रमत्तानाम्—बेवकूफी से आसक्त; तत्-ईहया—ऐसे विचारों में निमग्न; अत्यक्रामत्—पार कर गया; अविज्ञातः—अनजाने; कालः—सनातन काल; परम—परम; दुस्तरः—दुर्लभ।

जो लोग घरेलू मामलों में अत्यधिक लिप्त रहते हैं और उन्हीं के विचारों में मग्न रहते जाते हैं, उन्हें दुस्तर सनातन काल अनजाने ही धर दबोचता है।

तात्पर्य : “मैं अब सुखी हूँ; अब सब कुछ ठीक-ठीक है; मेरे पास बैंक में प्रचुर धन है; अब मैं अपने लड़कों को काफी जागीर दे सकता हूँ; अब मैं सफल हूँ; ये भिखारी संन्यासी ईश्वर पर आश्रित तो रहते हैं, किन्तु वे मेरे सामने हाथ फैलाने आते हैं, अतएव मैं परमेश्वर से भी बढ़कर हूँ।” ये कुछ विचार हैं, जो उन प्रमत्त आसक्त गृहस्थों के मनो में उमड़ते-घुमड़ते रहते हैं, जो शाश्वत काल के प्रति अन्धे रहते हैं। हमारी आयु सीमित है और परम इच्छा से नियत किये गये काल के विपरीत, इसे एक क्षण भी बढ़ा पाना सम्भव नहीं है। मनुष्यों के लिए ऐसा समय अत्यन्त मूल्यवान है और इसे सतर्कता से बिताया जाना चाहिए, क्योंकि अदृश्य रूप से बीते एक क्षण को कठिन कमाई से संग्रह किये गये हजारों सोने के सिक्कों से भी बदला नहीं जा सकता। मानव जीवन का प्रत्येक क्षण अन्ततः जीवन की समस्याओं को हल करने के निमित्त अर्थात् बारम्बार जन्म-मृत्यु एवं ८४,००,००० योनियों में भटकते रहने से छुटकारा पाने के लिए है। यह भौतिक शरीर, जो जन्म तथा मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे से ग्रस्त होता रहता है, जीव के समस्त कष्टों की जड़ है अन्यथा जीव तो शाश्वत है। न तो वह कभी जन्मता है, न कभी मरता है। मूर्ख लोग इस समस्या को भूल जाते हैं। उन्हें इसका पता ही नहीं रहता कि जीवन की समस्याओं को किस तरह हल किया जाए। उल्टे वे क्षणिक पारिवारिक झंझटों में उलझे रहते हैं और उनकी समझ में यह नहीं आता कि शाश्वत समय, अदृश्य रूप से बीतता जा रहा है, उनकी सीमित आयु हर क्षण घटती जा रही है और जन्म-मृत्यु एवं रोग तथा बुढ़ापे के चक्कर की सबसे बड़ी समस्या ज्यों की त्यों बनी रहती है। ही भ्रम कहलाता है।

किन्तु जो व्यक्ति भगवान् की भक्तिमय सेवा के प्रति जागरूक रहता है, उस पर यह भ्रम प्रभाव नहीं डाल सकता। युधिष्ठिर महाराज तथा उनके भाई पाण्डव सभी भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में लगे रहते थे और उन्हें इस भौतिक जगत के मायावी सुख के प्रति तनिक भी आकर्षण न था। जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, महाराज युधिष्ठिर भगवान् मुकुन्द (मोक्षदाता भगवान्) की सेवा में अचल थे, अतएव उन्हें स्वर्ग में उपलब्ध जीवन के सुख का भी आकर्षण न था, क्योंकि ब्रह्मलोक तक में उपलब्ध सुख क्षणिक तथा भ्रामक होता है। चूँकि जीव शाश्वत है, अतएव वह भगवान् के नित्य धाम

(परव्योम) में ही सुखी रह सकता है जहाँ से बारम्बार जन्म-मृत्यु, रोग तथा बुढ़ापे के इस भूभाग में कोई नहीं लौटता। अतः ऐसा कोई भी सुख या भौतिक सुविधा, जो शाश्वत जीवन प्रदान नहीं कर सकती, शाश्वत जीव के लिए भ्रम ही है। जो इस तथ्य को समझ लेता है, वह विद्वान है और ऐसा विद्वान व्यक्ति, *ब्रह्मसुखम्* के नाम से विख्यात वांछित लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसी भी भौतिक सुख का बलिदान कर सकता है। इस सुख के लिए वास्तविक योगी तक लालायित रहते हैं और जिस तरह भूखा व्यक्ति, भोजन के बिना, अन्य समस्त सुख-सुविधाओं से सुखी नहीं बनाया जा सकता, उसी प्रकार जिसे आध्यात्मिक परम सुख की भूख है, उसे कितना ही भौतिक सुख क्यों न प्राप्त हो, किन्तु इसकी यह भूख बुझती नहीं। अतएव इस श्लोक में वर्णित उपदेश को महाराज युधिष्ठिर पर या उनके भाइयों तथा माता पर लागू नहीं किया जा सकता। यह धृतराष्ट्र जैसे व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें शिक्षा देने के लिए विदुर विशेष रूप से आये।

विदुरस्तदभिप्रेत्य धृतराष्ट्रमभाषत ।

राजन्निर्गम्यतां शीघ्रं पश्येदं भयमागतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—महात्मा विदुर ने; तत्—वह; अभिप्रेत्य—ठीक से जानकर; धृतराष्ट्रम्—धृतराष्ट्र से; अभाषत—कहा; राजन्—हे राजा; निर्गम्यताम्—कृपा करके बाहर निकलें; शीघ्रम्—शीघ्र ही; पश्य—देखो; इदम्—इस; भयम्—भय को; आगतम्—पहले से आया हुआ।

महात्मा विदुर यह सब जानते थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा : हे राजन्, कृपा करके यहाँ से शीघ्र ही बाहर निकल चलिये। विलम्ब न कीजिये। जरा देखें तो, भय ने किस प्रकार आपको वशीभूत कर रखा है।

तात्पर्य : क्रूर काल को किसी की परवाह नहीं रहती, चाहे वह धृतराष्ट्र हो या महाराज युधिष्ठिर ही क्यों न हों। अतएव बूढ़े धृतराष्ट्र को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया गया, वह उनसे कम आयुवाले महाराज युधिष्ठिर पर भी लागू होता था। एक तरह से, राजमहल का प्रत्येक व्यक्ति, राजा तथा उनके भाइयों एवं माता सहित, विदुर के भाषणों को ध्यान से सुन रहा था। किन्तु विदुर को ज्ञात था कि उनके उपदेश विशेषकर धृतराष्ट्र के ही निमित्त हैं, क्योंकि वे अत्यधिक भौतिकतावादी थे। *राजन्* शब्द से धृतराष्ट्र को विशेष रूप से सम्बोधित किया गया है। धृतराष्ट्र अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे, अतएव

नियमों के अनुसार, उन्हें हस्तिनापुर के सिंहासन पर आरूढ़ होना था, किन्तु जन्मान्ध होने के कारण, वे अपने न्यायोचित अधिकार से अयोग्य मान लिए गये थे। वे इस शोकावस्था को भूल नहीं पाये, किन्तु अपने छोटे भाई पाण्डु की मृत्यु के बाद, यह निराशा कुछ कम हो गई। उनके छोटे भाई अपने पीछे कुछ अल्पवयस्क पुत्र छोड़ गये थे। अतएव धृतराष्ट्र उनके स्वाभाविक अभिभावक बन चुके थे, किन्तु उनकी हार्दिक अभिलाषा यह थी कि वे असली राजा बनें और अपना राज्य दुर्योधन आदि अपने पुत्रों को हस्तान्तरित कर दें। इन राजसी महत्वाकांक्षाओं को लेकर, धृतराष्ट्र राजा बनना चाह रहे थे, अतएव वे अपने साले शकुनी की सलाह से, सभी प्रकार के षड्यंत्र रच रहे थे। किन्तु भगवान् की इच्छा से सारी योजना असफल रही। वे अन्तिम अवस्था में भी अपना सब कुछ, सारे लोग तथा अपना सारा धन खोकर भी, राजा बने रहना चाहते थे, क्योंकि वे महाराज युधिष्ठिर के ताऊ जो थे। अपना कर्तव्य समझकर, महाराज युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की राजसी प्रतिष्ठा को बनाये रखा और धृतराष्ट्र सुखपूर्वक राजा बने रहने, अथवा महाराज युधिष्ठिर के राजसी ताऊ होने के भ्रम में अपने इने-गिने दिन काट रहे थे। विदुर धृतराष्ट्र के छोटे कर्तव्यनिष्ठ स्नेही भाई एवं एक साधु पुरुष होने के कारण, एक साधु पुरुष, उन्हें रोग तथा बुढ़ापे की नींद से जगाना चाह रहे थे। अतएव उन्होंने व्यंग्यपूर्वक धृतराष्ट्र को “राजन्” कहकर सम्बोधित किया जबकि वास्तव में वे राजा थे नहीं। हर व्यक्ति सनातन काल का दास है, अतएव कोई भी इस भौतिक जगत में राजा नहीं हो सकता। राजा का अर्थ है, वह जो आज्ञा दे सके। एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज राजा काल तथा ज्वार-भाटा को आदेश देना चाहता था, किन्तु काल तथा ज्वार-भाटा ने उसकी आज्ञा का पालन करने से इनकार कर दिया। अतएव इस भौतिक जगत में मनुष्य मिथ्या का राजा होता है और धृतराष्ट्र को विशेष रूप से, उनके मिथ्या पद का तथा उन वास्तविक भयानक घटनाओं का, जो उस समय घट चुकी थीं, स्मरण दिलाया जा रहा था। विदुर ने उनसे तुरन्त ही इस अवस्था से बाहर निकल आने के लिए कहा, यदि वे तेजी से बढ़ने वाली इस भयावह परिस्थिति से बचना चाह रहे हों। उन्होंने महाराज युधिष्ठिर से इस प्रकार नहीं कहा, क्योंकि उन्हें पता था कि महाराज युधिष्ठिर इस विकट संसार की भयावह परिस्थिति से अवगत हैं और कालक्रम में वे स्वयं अपनी रक्षा कर सकेंगे, भले ही उस समय विदुर वहाँ उपस्थित न हों।

प्रतिक्रिया न यस्येह कुतश्चित्कर्हिचित्प्रभो ।

स एष भगवान् कालः सर्वेषां नः समागतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

प्रतिक्रिया—उपचार; न—नहीं है; यस्य—जिसका; इह—इस भौतिक संसार में; कुतश्चित्—किसी प्रकार से भी; कर्हिचित्—या किसी के द्वारा; प्रभो—हे स्वामी; सः—वह; एषः—निश्चित रूप से; भगवान्—भगवान्; कालः—शाश्वत काल; सर्वेषाम्—सबों का; नः—हम सबका; समागतः—आया हुआ ।

इस भौतिक संसार में कोई भी व्यक्ति इस भयावह स्थिति का निराकरण नहीं कर सकता । हे स्वामी, शाश्वत काल के रूप में, पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हम सबों के पास आ पहुँचे हैं ।

तात्पर्य : ऐसी कोई बेहतर शक्ति नहीं है, जो मृत्यु के क्रूर पंजे को रोक सके । किसी को चाहे कितना ही शारीरिक कष्ट क्यों न होता हो, तब भी कोई मरना नहीं चाहता । आज की तथाकथित ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति के समय में भी न तो बुढ़ापे का कोई उपचार है, न मृत्यु का । वृद्धावस्था क्रूर काल द्वारा दी गई मृत्यु के आगमन की सूचना है और कोई भी शाश्वत काल के बुलावे को या परम निर्णय को स्वीकार करने से इनकार नहीं कर सकता है । यह सब धृतराष्ट्र को बताया जा रहा है, क्योंकि हो सकता है कि वे विदुर से इस आसन्न भयावह स्थिति से निपटने के लिए कोई उपचार ढूँढ़ निकालने के लिए कहें, जैसाकि वे इसके पूर्व कई बार कह चुके थे । किन्तु आज्ञा देने के पूर्व, विदुर ने धृतराष्ट्र को सूचित किया कि इस जगत में इसका किसी के पास या किसी साधन से कोई उपचार प्राप्त नहीं हो सकता । और चूँकि इस भौतिक जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, अतः मृत्यु भगवान् से अभिन्न है जैसाकि स्वयं भगवान् ने *भगवद्गीता* (१०.३४) में कहा है ।

इस भौतिक जगत में मृत्यु को न तो किसी के द्वारा, न ही किसी साधन से रोका जा सकता है । हिरण्यकशिपु अमर होना चाहता था और उसने उग्र तपस्या की थी, जिससे सारा संसार थरथरा रहा था और ब्रह्मा स्वयं उसे ऐसी उग्र तपस्या से विरत कराने के लिए उसके पास गये थे । हिरण्यकशिपु ने ब्रह्मा से यह वर माँगा कि वह अमर हो जाय, किन्तु ब्रह्मा ने कहा कि वे स्वयं सर्वोच्च लोक में रहकर भी मृत्यु के अधीन हैं, अतएव वे उसे अमरत्व का वरदान कैसे दे सकते हैं ? अतः इस ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक में भी मृत्यु है । फिर अन्य लोकों के विषय में तो कहना ही क्या, जो गुणता में ब्रह्मा के आवास के ग्रह ब्रह्मलोक से कहीं निम्न कोटि के हैं ? जहाँ कहीं भी सनातन काल का प्रभाव है, वहीं-वहीं जन्म, रोग, बुढ़ापा तथा मृत्यु इन कष्टों की शृंखला का अस्तित्व है और ये सारे अपराजेय हैं ।

येन चैवाभिपन्नोऽयं प्राणैः प्रियतमैरपि ।

जनः सद्यो वियुज्येत किमुतान्यैर्धनादिभिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

येन—ऐसे काल द्वारा खींचा गया; च—तथा; एव—निश्चय ही; अभिपन्नः—पकड़ में या प्रभाव में; अयम्—यह; प्राणैः—जीवन से; प्रिय-तमैः—जो सबों को अत्यन्त प्रिय है; अपि—यद्यपि; जनः—व्यक्ति; सद्यः—शीघ्र; वियुज्येत—त्याग दे; किम् उत अन्यैः—अन्य वस्तु के विषय में क्या कहा जाय; धन-आदिभिः—यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर।

जो भी सर्वोपरि काल (शाश्वत समय) के प्रभाव में है, उसे अपना सबसे प्रिय जीवन काल को अर्पित करना पड़ता है, अन्य वस्तुओं यथा धन, सम्मान, सन्तान, भूमि तथा घर का तो कुछ कहना ही नहीं।

तात्पर्य : एक महान् भारतीय वैज्ञानिक जो आयोजन करने के कार्य में व्यस्त रहता था, जब योजना आयोग की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बैठक में भाग लेने जा रहा था, तो सहसा उसे अजेय काल का बुलावा आ गया और उसे अपना जीवन, पत्नी, बच्चे, घर, भूमि, धन इत्यादि सब कुछ त्यागना पड़ा। भारत में राजनीतिक उथल-पुथल तथा पाकिस्तान एवं हिन्दुस्तान में इसके विभाजन के समय अनेक धनी तथा प्रभावशाली भारतीयों को काल के वश में आकर अपना जीवन, सम्पत्ति तथा सम्मान, सभी कुछ समर्पित कर देना पड़ा। सारे विश्व में, सारे ब्रह्माण्ड में, इस तरह के सैकड़ों-हजारों उदाहरण भरे पड़े हैं, जो सारे काल के प्रभाव के कारण हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्माण्ड में कोई भी ऐसा शक्तिशाली जीव नहीं है, जो काल के प्रभाव को जीत सके। अनेक कवियों ने काल के प्रभाव के विषय में विलाप करते हुए कविताएँ लिखीं हैं। काल के प्रभाव से ही ब्रह्माण्डों में अनेक विनाश-की घटनाएँ होती रही हैं और कोई भी उन्हें किसी साधन से रोक नहीं पाया। यहाँ तक कि हमारे हररोज के जीवन में ऐसी अनेक बातें घटती रहती हैं, जिनमें हमारा वश नहीं चलता और हमें उन्हें सहना पड़ता है। उनका कोई निवारक उपाय नहीं होता। यही काल का परिणाम है।

पितृभ्रातृसुहृत्पुत्रा हतास्ते विगतं वयम् ।

आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

पितृ—पिता; भ्रातृ—भाई; सुहृत्—शुभचिन्तक; पुत्राः—पुत्र; हताः—सारे के सारे मृत; ते—आपके; विगतम्—निःशेष; वयम्—आयु; आत्मा—शरीर; च—भी; जरया—वृद्धावस्था से; ग्रस्तः—अभिभूत, परास्त; पर-गेहम्—दूसरे के घर; उपाससे—जमे रहते हो।

आपके पिता, भाई, शुभचिन्तक तथा पुत्र सभी मर चुके हैं और दूर चले गये हैं। आपने स्वयं भी अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत कर लिया है, अब आपके शरीर को बुढ़ापे ने आ दबोचा है और आप पराए घर में पड़े हुए हैं।

तात्पर्य : राजा धृतराष्ट्र को क्रूर काल द्वारा वशीभूत उनकी गम्भीर दशा का स्मरण कराया जा रहा है। उन्हें अपने विगत अनुभव के कारण उन्हें अधिक बुद्धिमान हो जाना चाहिए था कि उनके जीवन में क्या घटित होने जा रहा है। उनके पिता, विचित्रवीर्य, काफी पहले मर चुके थे, जब वे तथा उनके छोटे भाई सभी छोटे-छोटे बालक थे। यह तो भीष्मदेव की देखरेख तथा सहृदयता का परिणाम था कि वे सभी अच्छी तरह पल सके। फिर उनके भाई पाण्डु भी चल बसे। तत्पश्चात्, उनके एक सौ पुत्र तथा सारे पौत्र, अपने अन्य समस्त हितैषि समेत, यथा भीष्मदेव, द्रोणाचार्य, कर्ण तथा अन्य बहुत से राजाओं तथा मित्र सभी, कुरुक्षेत्र के युद्ध में काम आ चुके थे। इस प्रकार उनके सारे जन तथा उनका सारा धन नष्ट हो चुका था और अब वे अपने भतीजे की कृपा पर जीवित थे, जिसे उन्होंने सभी प्रकार की मुसीबतों में डाला था। इन सारी विफलताओं के बावजूद, वे सोच रहे थे कि वे अपना जीवन दीर्घ काल तक ऐसे ही चलाते रहेंगे। धृतराष्ट्र को विदुर यह बता देना चाहते थे कि हर एक को अपने कर्म तथा भगवत्कृपा द्वारा अपनी रक्षा करनी होती है। मनुष्य को श्रद्धापूर्वक अपना कर्म करना चाहिए, फल तो परमेश्वर पर आश्रित है। जो व्यक्ति परमेश्वर द्वारा रक्षित नहीं है, उसकी रक्षा न कोई मित्र, न सन्तानें, न पिता, न भाई, न राज्य या अन्य कोई कर सकता है। अतएव मनुष्य को भगवान् के संरक्षण की खोज करनी चाहिए, क्योंकि यह मनुष्य जीवन इसी खोज के लिए मिला है। उन्हें उनकी गम्भीर स्थिति की जानकारी निम्नलिखित शब्दों द्वारा और भी अधिक दी गई।

अन्धः पुरैव वधिरो मन्दप्रज्ञाश्च साम्प्रतम् ।

विशीर्णदन्तो मन्दाग्निः सरागः कफमुद्बहन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

अन्धः—अंधा; पुरा—प्रारम्भ से; एव—निश्चय ही; वधिरः—बहरा; मन्द-प्रज्ञाः—कुन्द स्मृति; च—तथा; साम्प्रतम्—हाल ही में; विशीर्ण—हिलते हुए; दन्तः—दाँत; मन्द-अग्निः—यकृत की क्रिया का कम होना; स-रागः—ध्वनि सहित; कफम्—कफ; उद्धहन्—निकलता हुआ।

आप जन्म से ही अन्धे रहे हैं और हाल ही में आप कुछ बहरे हो चुके हैं। आपकी स्मृति कम हो गई है और आपकी बुद्धि विचलित हो गई है। आपके दाँत हिल चुके हैं, आपका यकृत खराब हो चुका है और आपके कफ निकल रहा है।

तात्पर्य : वृद्धावस्था के सारे लक्षण धृतराष्ट्र में पहले से प्रकट हो चुके थे और उन सबों को एक-एक करके बतलाकर, उन्हें आगाह किया जा रहा है कि उनकी मृत्यु अत्यन्त निकट है; तो भी वे भविष्य के प्रति मूर्ख की तरह लापरवाह थे। धृतराष्ट्र के शरीर में इंगित किये गये सारे लक्षण अपक्षय के थे, अर्थात् मृत्यु के अन्तिम आघात के पूर्व शरीर के क्षय होने के लक्षण थे। यह शरीर उत्पन्न होता है, बढ़ता है, बना रहता है, दूसरे शरीरों को जन्म देता है, उसका क्षय होता है और तब वह नष्ट हो जाता है। किन्तु मूर्ख लोग नश्वर शरीर के साथ स्थायी समझौता करना चाहते हैं और सोचते हैं कि उनकी जायदाद, सन्तानें, समाज, देश इत्यादि उन्हें संरक्षण प्रदान करेंगे। ऐसे मूर्खतापूर्ण विचारों में आकर, वे ऐसे अस्थायी कार्यों में व्यस्त हो जाते हैं और यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि उन्हें यह अस्थायी शरीर त्याग कर नया शरीर धारण करना है और समाज, मित्रता तथा प्यार की फिर नई व्यवस्था करनी है और अन्त में फिर से नष्ट हो जाना है। वे अपना स्थायी स्वरूप भूल जाते हैं और अपने मूल कर्तव्य को भूलकर अस्थायी कार्यों में सक्रिय हो जाते हैं। विदुर जैसे साधु-सन्त ऐसे लोगों को वास्तविक स्थिति के प्रति सचेत करने के लिए उनके पास पहुँचते हैं, किन्तु वे ऐसे साधु-सन्तों को समाज पर आश्रित अवांछित तत्त्व समझते हैं और लगभग सभी उनकी बातें अनसुनी कर देते हैं, यद्यपि वे अपनी इन्द्रियों को तृप्त करनेवाले तथाकथित दिखावटी साधु-सन्तों का स्वागत करते रहते हैं। विदुर ऐसे साधु न थे, जो धृतराष्ट्र की दुर्भावना की तुष्टि करते। वे जीवन की वास्तविक स्थिति को सही-सही बता रहे थे और यह बता रहे थे कि ऐसी विपत्तियों से अपने आपको किस प्रकार बचाया जाए।

अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यथा भवान् ।
भीमापवर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; महीयसी—शक्तिमान; जन्तोः—जीवों की; जीवित-आशा—जीवन की उम्मीद; यथा—जिस तरह; भवान्—आप हैं; भीम—भीमसेन (युधिष्ठिर के भाई) के; अपवर्जितम्—जूठा; पिण्डम्—भोजन; आदत्ते—खाया गया; गृह-पाल-वत्—घेरलू कुत्ते के समान।

ओह! प्राणी में जीवित रहने की कितनी प्रबल इच्छा होती है! निश्चय ही आप एक घेरलू कुत्ते की भाँति रह रहे हैं और भीम द्वारा दिये गये जूठन को खा रहे हैं।

तात्पर्य : साधु को कभी भी सुखमय जीवन बिताने की इच्छा से, राजाओं या धनियों की चापलूसी नहीं करनी चाहिए। साधु को चाहिए कि वह गृहस्थों से जीवन के कटु सत्य के बारे में बताए, जिससे वे इस भौतिक अस्तित्व के संकटपूर्ण अनिश्चित जीवन के विषय में सचेत हो सकें। धृतराष्ट्र गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त वृद्ध पुरुष के जीते-जागते उदाहरण हैं। वे वास्तव में दरिद्र हो चुके थे, फिर भी वे पाण्डवों के घर में सुख-पूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। इनमें से भीमसेन का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि उसने धृतराष्ट्र के दो प्रमुख पुत्रों—दुर्योधन तथा दुस्शासन का स्वयं वध किया था। ये दोनों पुत्र अपने छल-कपट एवं दुष्ट कार्यों के कारण उन्हें अत्यन्त प्रिय थे और भीमसेन का विशेष उल्लेख इसलिए हुआ है, क्योंकि उसने इन दोनों प्रिय पुत्रों को मारा था। तो धृतराष्ट्र पाण्डवों के घर में क्यों रह रहे थे? क्योंकि सारा अपमान सहकर भी वे सुखपूर्वक जीवन बिताना चाह रहे थे। अतः विदुर को आश्चर्य हो रहा था कि जीवित रहने की आशा कितनी प्रबल होती है। यह जीविताशा सूचित करती है कि जीव शाश्वत है और वह अपने शारीरिक निवासस्थान को बदलना नहीं चाहता। मूर्ख व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसे यह शरीर सीमित अवधि के लिए बन्दी के रूप में बिताने के लिए मिला है और मनुष्य शरीर तो अनेकानेक जन्मांतरों के बाद मिलता है, जो भगवद्धाम वापस जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार का सुअवसर होता है। लेकिन धृतराष्ट्र जैसे व्यक्ति, लाभ-सहित सुखी रहकर जीवित रहने की योजनाएँ बनाते हैं, क्योंकि उन्हें असली रूप में ज्ञान नहीं होता। धृतराष्ट्र अन्धे थे और जीवन की समस्त विषमताओं के बीच वे सुखपूर्वक जीवित रहने की आशा लगाये हुए थे। विदुर जैसे साधु ऐसे अंधे व्यक्तियों को सावधान करने के लिए तथा शाश्वत जीवन बिताने के लिए भगवद्-धाम जाने में सहायता करने के लिए होते हैं। एक बार वहाँ जाकर कोई इस दुखमय संसार में वापस नहीं आना चाहता। अतएव हम सोच सकते हैं कि महात्मा विदुर जैसे साधु पुरुषों को कितना उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य करने के लिए सौंपा जाता है।

अग्निर्निसृष्टो दत्तश्च गरो दाराश्च दूषिताः ।
हृतं क्षेत्रं धनं येषां तद्दत्तैरसुभिः कियत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; निसृष्टः—लगाया हुआ; दत्तः—दिया हुआ; च—तथा; गरः—विष; दाराः—विवाहिता स्त्री; च—तथा;
दूषिताः—अपमानित; हृतम्—बलपूर्वक छीना गया; क्षेत्रम्—राज्य; धनम्—सम्पत्ति; येषाम्—जिनका; तत्—उनका; दत्तैः—
दिया गया; असुभिः—जीने में; कियत्—अनावश्यक है।

आपने अग्नि लगाकर तथा विष देकर जिन लोगों को मारना चाहा, उन्हीं के दान पर आपको जीवित रहने तथा गिरा हुआ जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं है। उनकी एक पत्नी को भी आपने अपमानित किया है और उनका राज्य तथा धन छीन लिया है।

तात्पर्य : वर्णाश्रम धर्म पद्धति में मनुष्य जीवन का एक अंश पूर्णतया आत्म-साक्षात्कार के हेतु तथा मोक्ष प्राप्त करने के लिए सुरक्षित रहता है। यह जीवन काल का सामान्य विभाजन है, लेकिन धृतराष्ट्र-जैसे लोग वृद्धावस्था में भी घर में बने रहना चाहते हैं, भले ही दुश्मन से दान स्वीकार करके अधम जीवन ही क्यों न बिताना पड़े। विदुर यह बताना चाह रहे थे और धृतराष्ट्र पर जोर डालना चाहते थे कि इस तरह अपमानित होकर दान स्वीकार करने की अपेक्षा अपने पुत्रों की भाँति मर जाना अधिक श्रेयस्कर है। आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व एक धृतराष्ट्र था, लेकिन इस समय तो घर-घर में धृतराष्ट्र हैं! राजनेता तो विशेष रूप से राजनैतिक गतिविधियों से तब तक अवकाश नहीं लेते, जब तक क्रूर मृत्यु उन्हें घसीटकर नहीं ले जाती या कोई विरोधी तत्त्व उन्हें मार नहीं डालता। अपने मनुष्य जीवन के अन्त तक गृहस्थ जीवन में चिपके रहना सबसे निपट अधमता है। अतएव इस समय भी ऐसे विदुरों की आवश्यकता है, जो धृतराष्ट्रों को मार्ग दिखा सकें।

तस्यापि तव देहोऽयं कृपणस्य जिजीविषोः ।
परैत्यनिच्छतो जीर्णो जरया वाससी इव ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उसका; अपि—के बावजूद; तव—तुम्हारा; देहः—शरीर; अयम्—यह; कृपणस्य—कंजूस का; जिजीविषोः—जीवन की इच्छा करनेवाले का; परैति—क्षीण हो जाएगा; अनिच्छतः—न चाहते हुए भी; जीर्णः—टूटा-फूटा; जरया—पुराने; वाससी—वस्त्रों; इव—सदृश।

मरने के लिए आपकी अनिच्छा होने तथा आत्म-सम्मान की बलि देकर जीवित रहने की आपकी इच्छा होने पर भी, आपका यह कृपण शरीर निश्चय ही क्षीण होगा तथा पुराने वस्त्र की भाँति नष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : कृपणस्य जिजीविषोः शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। मनुष्यों के दो वर्ग होते हैं—एक कृपण कहलाते हैं और दूसरे ब्राह्मण। कृपण अर्थात् कंजूस अपने भौतिक शरीर का कोई मूल्यांकन नहीं कर पाता, किन्तु ब्राह्मण अपना तथा अपने शरीर का पूरा-पूरा मूल्यांकन कर सकता है। कृपण अपने शरीर का गलत मूल्यांकन करने के कारण, इन्द्रियतृप्ति का भरपूर ताकत से भोग करना चाहता है और बुढ़ापे में भी औषधियों के उपचार से या किसी अन्य तरह से जवान बनना चाहता है। धृतराष्ट्र को यहाँ पर कृपण कहा गया है, क्योंकि वह अपने शरीर का कोई मूल्यांकन किये बिना येन-केन-प्रकारेण जीवित रहना चाहता है। विदुर उसकी आँखें खोलना चाह रहे हैं कि वह निश्चित अवधि से अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता और अब उसे मरने के लिए तैयार रहना चाहिए। चूँकि मृत्यु अवश्यम्भावी है, तो उसे जीवित रहने के लिए ऐसी अपमाजनक स्थिति का स्वीकार क्यों करना चाहिए? श्रेयस्कर तो यही है कि मृत्यु की जोखिम उठाते हुए भी समुचित राह पकड़ी जाय। यह मनुष्य जीवन भौतिक अस्तित्व के सारे दुखों को समाप्त करने के लिए मिला है और जीवन को इस प्रकार नियमित बनाना चाहिए कि वांछित लक्ष्य प्राप्त हो सके। धृतराष्ट्र, जीवन के प्रति गलत धारणा के कारण, अपनी अर्जित शक्ति का अस्सी प्रतिशत भाग पहले ही गँवा चुके थे, अतएव उन्हें कृपण जीवन के अन्तिम दिनों का सदुपयोग परम कल्याण के लिए करना चाहिए। ऐसा जीवन कृपण कहलाता है, क्योंकि इस तरह कोई मनुष्य जीवन की सारी निधियों का सही-सही उपयोग नहीं कर पाता। सौभाग्य से ही, ऐसे कृपण मनुष्य की विदुर जैसे स्वरूप-सिद्ध व्यक्ति से भेंट होती है और उसके उपदेश से भवसागर के अज्ञान से छुटकारा प्राप्त होता है।

गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबन्धनः ।

अविज्ञातगतिर्जह्यात् स वै धीर उदाहृतः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

गत-स्व-अर्थम्—ठीक से उपयोग किये बिना; इमम्—इस; देहम्—भौतिक शरीर को; विरक्तः—अन्यमनस्क; मुक्त—मुक्त होकर; बन्धनः—सारे बन्धनों से; अविज्ञात-गतिः—अज्ञात लक्ष्य; जह्यात्—इस शरीर को त्याग देना चाहिए; सः—ऐसा व्यक्ति; वै—निश्चय ही; धीरः—अविचल; उदाहृतः—कहलाता है।

वह धीर कहलाता है, जो किसी अज्ञात सुदूर स्थान को चला जाए और जब यह भौतिक शरीर व्यर्थ हो जाए, तब सारे बन्धनों से मुक्त होकर अपने शरीर को त्यागता है।

तात्पर्य : महान् भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर का गीत है, “हे भगवान्! मैंने अपना जीवन व्यर्थ गँवा दिया। मनुष्य शरीर पाने पर भी, मैंने आपकी उपासना की उपेक्षा की है, अतः मैंने जानबूझ कर विषपान किया है।” दूसरे शब्दों में, मनुष्य का शरीर विशेष रूप से भगवान् की भक्तिमय सेवा के ज्ञान के अनुशीलन के लिए मिला है, जिसके बिना जीवन चिन्ताओं से भरा तथा कष्टमय बन जाता है। अतएव जिसने ऐसे सांस्कृतिक कार्यकलापों के बिना ही अपना जीवन गवाँ दिया हो, तो उसे सलाह दी जाती है कि वह मित्रों तथा सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़ दे और इस तरह परिवार, समाज, देश इत्यादि के बन्धनों से मुक्त हो ले तथा ऐसे अज्ञात स्थान में शरीर का त्याग करे, जिससे लोग यह न जान सकें कि कब और कैसे उसकी मृत्यु हुई। धीर का अर्थ है, जो बहुत उत्तेजित किये जाने पर भी विचलित न हो। मनुष्य अपनी पत्नी और बच्चों के साथ अपने स्नेहमय सम्बन्धों के कारण सुखमय गृहस्थ जीवन का त्याग नहीं कर पाता। परिवार के प्रति ऐसे व्यर्थ के स्नेह से आत्म-साक्षात्कार अवरूद्ध हो जाता है और जो कोई ऐसे सम्बन्ध को भुलाने में समर्थ होता है, वह धीर कहलाता है। किन्तु यह तो हताश जीवन का वैराग्य-पथ है। ऐसे वैराग्य का स्थिरीकरण प्रामाणिक सन्तों तथा स्वरूप-सिद्ध महात्माओं के सान्निध्य से ही सम्भव है, जिससे मनुष्य भगवद्भक्ति में प्रवृत्त हो सकता है। दिव्य सेवाभाव को जागृत करके भगवान् के चरणकमलों में एकनिष्ठ शरणागति सम्भव है। भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति से ऐसा सम्भव हो पाता है। धृतराष्ट्र भाग्यशाली थे कि उनका ऐसा भाई था, जिसकी संगति उनके हताश जीवन के लिए मुक्ति का साधन थी।

यः स्वकात्परतो वेह जातनिर्वेद आत्मवान् ।

हृदि कृत्वा हरिं गेहात्प्रव्रजेत्स नरोत्तमः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

यः—जो कोई; स्वकात्—अपने जागरण से; परतः वा—अथवा अन्यो से सुनकर; इह—इस संसार में; जात—बनता है; निर्वेदः—भौतिक आसक्ति के प्रति अन्यमनस्क; आत्मवान्—चेतना; हृदि—हृदय के भीतर; कृत्वा—ग्रहण किया जाकर; हरिम्—भगवान् को; गेहात्—घर से; प्रव्रजेत्—बाहर चला जाता है; सः—वह; नर-उत्तमः—प्रथम कोटि का मनुष्य है।

अपने आप से या दूसरे के समझाने से जो व्यक्ति जाग जाता है और इस भौतिक जगत की असत्यता तथा दुखों को समझ लेता है तथा अपने हृदय के भीतर निवास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित होकर घर त्याग देता है, वह निश्चय ही उत्तम कोटि का मनुष्य है।

तात्पर्य : अध्यात्मवादीयों की तीन श्रेणियाँ हैं—(१) धीर अर्थात् वह जो पारिवारिक संगति से दूर रहने के कारण विचलित नहीं होता, (२) संन्यासी जो हताश भावना के कारण विरक्त जीवन बिताता है; तथा (३) निष्ठावान भगवद्भक्त, जो श्रवण तथा कीर्तन द्वारा ईश्वर-चेतना जगाता है और हृदय में वास करनेवाले भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहकर गृह-त्याग कर देता है। भाव यह है कि भौतिक जगत में हताश भावनामय जीवन के बाद संन्यास आत्म-साक्षात्कार के मार्ग का प्रथम सोपान हो सकता है, किन्तु मुक्ति-मार्ग में वास्तविक सिद्धि तभी प्राप्त होती है, जब मनुष्य उन भगवान् पर पूर्णतया आश्रित रहने का अभ्यास कर लेता है, जो परमात्मा रूप में प्रत्येक के हृदय में स्थित रहते हैं। वह, भले ही घर के परे गहन अंधकारमय जंगल में क्यों न रहे, किन्तु धीर भक्त अच्छी तरह जानता है कि वह अकेला नहीं है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सदैव अपने सच्चे भक्त के साथ रहते हैं और किसी भी विषम परिस्थिति में उसकी रक्षा करते हैं। अतएव मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्तों की संगति में भगवान् के पवित्र नाम, रूप, लीलाओं, पार्षदों आदि का श्रवण तथा कीर्तन करते हुए घर पर ही भक्ति का अभ्यास करे और यह अभ्यास उसकी निष्ठा के अनुसार उसमें ईश्वर-चेतना जगाने में सहायता करता है। जो व्यक्ति ऐसे कार्यो के द्वारा भौतिक लाभ चाहता है, वह कभी भी भगवान् पर आश्रित नहीं रह सकता, यद्यपि भगवान् हर एक के हृदय में वास करनेवाले हैं। न ही, उन लोगों को जो इस तरह के भौतिक लाभ के लिये भगवान् की पूजा करते हैं, भगवान् कोई निर्देश देते हैं। ऐसे भौतिकतावादी भक्तों को भगवान् भौतिक लाभ का वर दे सकते हैं, किन्तु वे कभी भी उत्तमकोटि के पुरुषों की कोटि को प्राप्त नहीं कर पाते, जैसाकि ऊपर बताया गया है। विश्व के इतिहास में, विशेष रूप से भारत में, ऐसे निष्ठावान भक्तों के अनेक उदाहरण पाये जाते हैं और वे सब आत्म-साक्षात्कार के पथ में हमारे

मार्गदर्शक हैं। महात्मा विदुर ऐसे ही एक महान् भक्त हैं और आत्म-साक्षात्कार के लिये हमें उनके कमल सदृश चरण-चिह्नों का अनुसरण करने का प्रयास करना चाहिये।

अथोदीचीं दिशं यातु स्वैरज्ञातगतिर्भवान् ।

इतोऽर्वाक्प्रायशः कालः पुंसां गुणविकर्षणः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतएव; उदीचीम्—उत्तरी; दिशम्—दिशा को; यातु—चले जाइये; स्वैः—अपने सम्बन्धियों द्वारा; अज्ञात—जाने बिना; गतिः—गतिविधियाँ; भवान्—आपकी; इतः—इसके बाद; अर्वाक्—सूत्रपात होगा; प्रायशः—सामान्यतया; कालः—काल, समय; पुंसाम्—मनुष्यों के; गुण—गुण; विकर्षणः—हास।

अतएव कृपया आप अपने कुटुम्बियों को बताये बिना, तुरन्त उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दीजिए, क्योंकि शीघ्र ही ऐसा समय आनेवाला है, जिसमें मनुष्य के सद्गुणों का हास होगा।

तात्पर्य : मनुष्य धीर बनकर या अपने सम्बन्धियों को बताये बिना घर छोड़कर, हताश जीवन की क्षतिपूर्ति कर सकता है और विदुर ने अपने अग्रज को अविलम्ब इस मार्ग को अपनाने की सलाह दी, क्योंकि कलियुग का शीघ्र ही आगमन होने वाला था। बद्धजीव भौतिक संसर्ग के कारण पहले से पतित हुआ होता है और कलियुग में तो मनुष्य के सद्गुण निम्नतम स्तर तक पहुँच चुके होंगे। उन्हें सलाह दी गई है कि कलियुग के आगमन के पूर्व ही वे घर छोड़ दें, क्योंकि विदुर ने जीवन के कई सत्य के विषय में अपने बहुमूल्य उपदेशों द्वारा जो वातावरण उत्पन्न किया था, वह कलियुग के तेजी से निकट आने के कारण लुप्त हो जाएगा। सामान्य व्यक्ति के लिए, *नरोत्तम* बनना अर्थात् भगवान् श्रीकृष्ण पर पूर्णतया निर्भर रहनेवाला उत्तम कोटि का मनुष्य बनना सम्भव नहीं है। *भगवद्गीता* (७.२८) में कहा गया है कि जो व्यक्ति पापकर्मों के दूषणों से पूर्णतया रहित हो जाता है, वही भगवान् श्रीकृष्ण पर आश्रित रह सकता है। धृतराष्ट्र को विदुर ने सलाह दी कि यदि वे *संन्यासी* या *नरोत्तम* नहीं बन सकते, तो प्रारम्भ में कम से कम *धीर* तो बन लें। *धीर* अवस्था से *नरोत्तम* अवस्था प्राप्त करने के लिये मनुष्य को आत्म-साक्षात्कार की दिशा में निरन्तर प्रयास करना पड़ता है। धीर अवस्था योग-पद्धति के दीर्घकालीन अभ्यास से, प्राप्त होती है, किन्तु विदुर की कृपा से धीर अवस्था के साधनों के ग्रहण करने

की इच्छा करने से ही यह अवस्था प्राप्त की जा सकती है, जो संन्यास की प्रारम्भिक अवस्था है।
संन्यास अवस्था परमहंस अवस्था अर्थात् प्रथम श्रेणी के भक्त की प्रारम्भिक अवस्था है।

एवं राजा विदुरेणानुजेन प्रज्ञाचक्षुर्बोधित आजमीढः ।

छित्त्वा स्वेषु स्नेहपाशान्द्रढिमनो निश्चक्राम भ्रातृसन्दर्शिताध्वा ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; राजा—राजा धृतराष्ट्र; विदुरेण अनुजेन—अपने छोटे भाई विदुर द्वारा; प्रज्ञा—आत्मनिरीक्षण का ज्ञान;
चक्षुः—आँखें; बोधितः—समझी जाकर; आजमीढः—धृतराष्ट्र, जो आजमीढ वंश की संतान थे; छित्त्वा—तोड़कर; स्वेषु—
सम्बन्धियों के विषय में; स्नेह-पाशान्—स्नेह के बन्धनों को; द्रढिमनः—दृढ़ता के कारण; निश्चक्राम—बाहर चले गये; भ्रातृ—
अपने भाई द्वारा; सन्दर्शित—दिखलाये हुए; अध्वा—मुक्तिपथ।

इस प्रकार आजमीढ के वंशज महाराज धृतराष्ट्र ने आत्मनिरीक्षणयुक्त ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा पूर्णतः आश्रित होकर तुरन्त ही अपने दृढ़ संकल्प से पारिवारिक स्नेह के सारे दृढ़ पाश तोड़ दिये। तत्पश्चात् वे तत्काल घर छोड़कर, अपने छोटे भाई विदुर द्वारा दिखलाये गये मुक्ति-पथ पर निकल पड़े।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों के महान् प्रचारक भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने साधुओं अर्थात् भगवान् के शुद्ध भक्तों की संगति पर विशेष बल दिया है। उन्होंने बताया है कि शुद्ध भक्त के साथ एक क्षण की संगति से भी उसे सारी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। हम यह स्वीकार करते हुए तनिक भी लज्जित नहीं हैं कि हमने अपने व्यावहारिक जीवन में ऐसा ही अनुभव किया है। यदि कुछ मिनट की प्रथम भेंट के समय कृष्ण कृपामूर्ति श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज की कृपा न हुई होती, तो अंग्रेजी में श्रीमद्भागवत के वर्णन का यह गुरुतर कार्य स्वीकार कर पाना हमारे लिए असम्भव होता। उस उपयुक्त क्षण में उनका दर्शन किये बिना हम एक धुरंधर व्यापारी होते, किन्तु मुक्ति के मार्ग पर चलने तथा अपने गुरु के आदेशानुसार भगवान् की सेवा करने के मार्ग पर अग्रसर होने में कभी समर्थ न हुए होते। और यहाँ पर प्रस्तुत है दूसरा व्यावहारिक उदाहरण—धृतराष्ट्र के साथ विदुर की संगति का प्रभाव। महाराज धृतराष्ट्र राजनीति, अर्थशास्त्र तथा पारिवारिक आसक्ति से सम्बद्ध भौतिक आकर्षण के जाल में मजबूती से बँधे हुए थे और अपनी सुनियोजित परियोजनाओं को सफल बनाने के लिये उन्होंने पूरी शक्ति से कार्य किया, किन्तु उन्हें अपने भौतिक कार्यकलापों में अथ से इति तक,

हताशा ही हाथ लगी। इसके बावजूद, अपने जीवन की विफलताओं के होते हुए भी, उन्होंने आदर्श साधु के प्रतीक समान भगवान् के शुद्ध भक्त के शक्तिशाली उपदेशों से आत्म-साक्षात्कार में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की। अतएव शास्त्रों का आदेश है कि केवल साधुओं की संगति करनी चाहिये और अन्य समस्त प्रकार की संगतियों का तिरस्कार कर देना चाहिए। ऐसा करने से साधुओं से श्रवण करने के लिए पर्याप्त सुअवसर प्राप्त हो सकेगा, जो इस भौतिक जगत में माया के स्नेह-बन्धन को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं। तथ्य यह है कि यह भौतिक जगत महान् मोह (भ्रम) है, क्योंकि इसमें प्रत्येक वस्तु यथार्थ सत्य प्रतीत होती है, लेकिन दूसरे ही क्षण वह समुद्र के उफनते फेन की भाँति या आकाश में बादलों की भाँति छूमन्तर हो जाती है। आकाश में बादल सचमुच ही वास्तविक प्रतीत होते हैं, क्योंकि उनसे वर्षा होती है और वर्षा के कारण बहुत सारी क्षणभंगुर हरी-हरी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु काल-क्रम में बादल, वर्षा तथा हरी-हरी वनस्पतियाँ सब कुछ विलुप्त हो जाता है। लेकिन आकाश बना रहता है और आकाश में चमचमाते तारे हमेशा ही बने रहते हैं। इसी प्रकार परम सत्य जिसकी उपमा आकाश से दी जाती है, शाश्वत बने रहते हैं और बादल स्वरूप मोह (भ्रम) आता तथा जाता रहता है। मूर्ख जीव क्षणिक बादल के प्रति आकृष्ट होते हैं, लेकिन जो बुद्धिमान हैं, वे शाश्वत आकाश तथा वहाँ की समस्त विविधता से सरोकार रखते हैं।

पतिं प्रयान्तं सुबलस्य पुत्री

पतिव्रता चानुजगाम साध्वी ।

हिमालयं न्यस्तदण्डप्रहर्ष

मनस्विनामिव सत्सम्प्रहारः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पतिम्—अपने पति को; प्रयान्तम्—घर त्यागते समय; सुबलस्य—राजा सुबल की; पुत्री—योग्य पुत्री; पति-व्रता—अपने पति को समर्पित; च—भी; अनुजगाम—पीछे-पीछे गई; साध्वी—सती; हिमालयम्—हिमालय पर्वत की ओर; न्यस्त-दण्ड—संन्यास आश्रम के दण्ड को स्वीकार करनेवाला; प्रहर्षम्—हर्ष का विषय; मनस्विनाम्—महान् योद्धाओं का; इव—सदृश; सत्—वैध; सम्प्रहारः—अच्छी पिटाई।

कन्दहार (गान्धार) के राजा सुबल की पुत्री, परम साध्वी गान्धारी ने जब यह देखा कि उसके पति हिमालय पर्वत की ओर जा रहे हैं, जो कि संन्यासियों को वैसा ही आनन्द देता है

जैसा कि युद्ध के मैदान में योद्धा को शत्रुओं के प्रहार से प्राप्त होता है, तो वह भी अपने पति के पीछे-पीछे चल पड़ीं।

तात्पर्य : सुबल की पुत्री तथा राजा धृतराष्ट्र की पत्नी, सौबलिनी अर्थात् गान्धारी, अत्यन्त पति-परायणा आदर्श पत्नी थीं। वैदिक सभ्यता में साध्वी तथा पतिव्रता स्त्रियाँ होती थीं, जिनमें से गान्धारी का भी वर्णन इतिहास में पाया जाता है। लक्ष्मीजी सीता देवी एक महान् राजा की पुत्री होते हुए भी अपने पति भगवान् रामचन्द्र के पीछे-पीछे जंगल गईं। इसी प्रकार सामान्य स्त्री की तरह, गान्धारी अपने घर या मायके में रह सकती थीं, किन्तु साध्वी तथा भद्र महिला की भाँति, बिना कुछ विचार किये उन्होंने अपने पति का अनुसरण किया। विदुर ने धृतराष्ट्र को वानप्रस्थ आश्रम के उपदेश दिये थे और गान्धारी अपने पति के साथ-साथ रहीं। किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि तुम मेरे साथ चलो, क्योंकि उस समय वे उसी तरह दृढ़-संकल्प थे, जिस प्रकार एक महान् योद्धा युद्धभूमि में सभी प्रकार के खतरों को झेलता है। वे तथाकथित पत्नी या सम्बन्धियों के प्रति अब तनिक भी आकृष्ट न थे, उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया था, किन्तु साध्वी नारी के रूप में गान्धारी ने अन्तिम क्षण तक अपने पति का अनुसरण करने का निश्चय किया। महाराज धृतराष्ट्र ने वानप्रस्थ आश्रम स्वीकार कर लिया। इस अवस्था में स्त्री को स्वेच्छा से सेविका-रूप में साथ रहने की अनुमति है, लेकिन संन्यास आश्रम में कोई भी पत्नी अपने पूर्व पति के साथ नहीं रह सकती। नागरिकता की दृष्टि से, संन्यासी मृत मनुष्य समझा जाता है, अतएव उसकी स्त्री अपने पूर्व पति से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखने के कारण विधवा हो जाती है। महाराज धृतराष्ट्र ने अपनी श्रद्धालु पत्नी को मना नहीं किया और वह स्वेच्छा से अपने पति का अनुसरण करती रही।

संन्यासी लोग संन्यास आश्रम के प्रतीक-स्वरूप दण्ड धारण करते हैं। संन्यासी दो प्रकार के होते हैं। जो श्रीपाद शंकराचार्य के मायावादी दर्शन का अनुसरण करते हैं, वे केवल एक दण्ड स्वीकार करते हैं (एक-दण्डी), किन्तु जो वैष्णव दर्शन का पालन करते हैं, वे तीन संयुक्त दण्ड धारण करते हैं (त्रि-दण्डी)। मायावादी संन्यासी एक-दण्डी स्वामी होते हैं जबकि वैष्णव संन्यासी त्रिदण्डी स्वामी, या और स्पष्टता से कहा जाए तो त्रि-दण्डी गोस्वामी कहलाते हैं, जिससे मायावादी चिन्तकों से अन्तर किया जा सके। एक-दण्डी स्वामी अधिकांशतया हिमालय के प्रेमी होते हैं, लेकिन वैष्णव संन्यासी

वृन्दावन तथा पुरी के लिये इच्छुक रहते हैं। वैष्णव संन्यासी *नरोत्तम* होते हैं जबकि मायावादी संन्यासी *धीर* होते हैं। महाराज धृतराष्ट्र को *धीरों* का अनुगमन करने की सलाह दी गई थी, क्योंकि उस अवस्था में उनके लिये *नरोत्तम* बन पाना कठिन था।

अजातशत्रुः कृतमैत्रो हुताग्नि-

विप्रात्रत्वा तिलगोभूमिरुक्मैः ।

गृहं प्रविष्टो गुरुवन्दनाय

न चापश्यत्पितरौ सौबलीं च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

अजात—जो कभी जन्मा नहीं; शत्रुः—शत्रु; कृत—किया गया; मैत्रः—देवताओं की पूजा करना; हुत-अग्निः—अग्नि में; विप्रांन्—ब्राह्मणों को; नत्वा—नमस्कार करके; तिल-गो-भूमि-रुक्मैः—अन्न, गौवों, भूमि तथा स्वर्ण के साथ; गृहम्—महल के भीतर; प्रविष्टः—प्रवेश करके; गुरु-वन्दनाय—गुरुजनों को नमस्कार करने के लिये; न—नहीं; च—भी; अपश्यत्—देखा; पितरौ—अपने चाचाओं को; सौबलीम्—गांधारी को; च—भी।

अजातशत्रु महाराज युधिष्ठिर ने वन्दना करके, सूर्यदेव को अग्नि-यज्ञ अर्पित करके तथा ब्राह्मणों को नमस्कार करके एवं उन्हें अन्न, गाय, भूमि तथा स्वर्ण अर्पित करके, अपने नैतिक प्रातःकालीन कर्म किये। तत्पश्चात् वे गुरुजनों का अभिवादन करने के लिए राजमहल में प्रविष्ट हुए। किन्तु उन्हें न तो उनके ताऊ मिले, न ही राजा सुबल की पुत्री (गांधारी) अर्थात् ताई मिलीं।

तात्पर्य : महाराज युधिष्ठिर अत्यन्त पवित्र राजा थे, क्योंकि वे स्वयं गृहस्थ के सारे नैतिक कर्म किया करते थे। गृहस्थों को प्रातःकाल जल्दी जगना होता है और स्नान करने के बाद, उन्हें प्रार्थना से, अग्नि में आहुति से, ब्राह्मणों को भूमि, गौवें, अन्न, सोना, इत्यादि का दान देकर तथा गुरुजनों को सादर नमस्कार करके अर्चा-विग्रह को अभिवादन करना होता है। जो व्यक्ति, शास्त्रों द्वारा नियत आदेशों का पालन करने को तैयार नहीं होते, वे केवल किताबी ज्ञान से उत्तम व्यक्ति (नरोत्तम) नहीं बन सकते। आधुनिक गृहस्थों को विभिन्न प्रकार की जीवन-शैलियों की आदत हो गई है, जैसे कि देर से जगना और फिर बिना किसी प्रकार की उपरिवर्णित शुद्धि के बिस्तर में लेटे-लेटे चाय पीना। घर के बच्चे अपने माता-पिता को जो कुछ करते देखते हैं, उसी का अभ्यास करते हैं, अतएव सारी की सारी पीढ़ी का नर्क की ओर पतन होता है। जब तक वे साधु की संगति नहीं करते, तब तक उनसे किसी अच्छाई

की आशा नहीं की जा सकती। भौतिकतावादी मनुष्य, धृतराष्ट्र की भाँति, विदुर जैसे साधु से शिक्षा ग्रहण कर सकता है और इस प्रकार आधुनिक जीवन के दुष्प्रभावों से शुद्ध हो सकता है।

लेकिन महाराज युधिष्ठिर को राजमहल में, राजा सुबल की पुत्री गांधारी समेत, उनके चाचा-ताऊ-धृतराष्ट्र तथा विदुर—नहीं मिले। वे उन्हें मिलने को आतुर थे, अतएव उन्होंने धृतराष्ट्र के निजी सचिव सञ्जय से पूछा।

तत्र सञ्जयमासीनं पप्रच्छोद्विग्नमानसः ।

गावल्गणे क्व नस्तातो वृद्धो हीनश्च नेत्रयोः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; सञ्जयम्—संजय को; आसीनम्—बैठा; पप्रच्छ—पूछा; उद्विग्न-मानसः—चिन्ता से पूरित; गावल्गणे—गवल्गण पुत्र, सञ्जय; क्व—कहाँ हैं; नः—हमारा; तातः—ताऊ; वृद्धः—बूढ़ा; हीनः च—तथा विहीन; नेत्रयोः—आँखों से।

चिन्ता से पूरित महाराज युधिष्ठिर संजय की ओर मुड़े, जो वहाँ बैठे थे और उनसे पूछा : हे संजय, हमारे वृद्ध तथा अंधे ताऊ कहाँ हैं ?

अम्बा च हतपुत्रार्ता पितृव्यः क्व गतः सुहृत् ।

अपि मय्यकृतप्रज्ञे हतबन्धुः स भार्यया ।

आशंसमानः शमलं गङ्गायां दुःखितोऽपतत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अम्बा—माता, ताई; च—तथा; हत-पुत्रा—जिनके सारे पुत्र मारे जा चुके थे; आर्ता—अत्यन्त दुखी; पितृव्यः—चाचा विदुर; क्व—कहाँ; गतः—गये हुए; सुहृत्—शुभ-चिन्तक; अपि—क्या; मयि—मुझको; अकृत-प्रज्ञे—कृतघ्न; हत-बन्धुः—जिसके सारे पुत्र नहीं रहे हों; सः—धृतराष्ट्र; भार्यया—अपनी पत्नी सहित; आशंसमानः—संशय-युक्त मन में; शमलम्—अपराध; गङ्गायाम्—गंगा-जल में; दुःखितः—मन में दुखी; अपतत्—गिर पड़े।

मेरे शुभचिन्तक चाचा विदुर तथा अपने सभी पुत्रों के निधन से अत्यन्त शोकाकुल माता गांधारी कहाँ हैं ? मेरे ताऊ धृतराष्ट्र भी अपने समस्त पुत्रों तथा पौत्रों की मृत्यु के कारण शोकार्त थे। निस्सन्देह, मैं अत्यन्त कृतघ्न हूँ। अतएव, क्या वे मेरे अपराधों को अत्यन्त गम्भीर मानकर अपनी पत्नी-सहित गंगा में कूद पड़े ?

तात्पर्य : पाण्डवों ने और विशेष रूप से महाराज युधिष्ठिर तथा अर्जुन ने, कुरुक्षेत्र युद्ध के परवर्ती प्रभावों की पूर्ण कल्पना कर ली थी, अतएव अर्जुन ने युद्ध करने से इनकार कर दिया था। यह युद्ध

भगवान् की इच्छा से हुआ, लेकिन पारिवारिक शोक के प्रभाव उसी तरह सत्य उतरे, जैसा उन्होंने पहले से सोच रखा था। महाराज युधिष्ठिर अपने ताऊ धृतराष्ट्र तथा ताई गांधारी की दुर्दशा के प्रति सदैव सचेत थे। अतएव उनकी वृद्धावस्था में तथा दुखी अवस्थाओं में, वे उनकी यथा-सम्भव देखभाल करते रहते थे। अतएव जब उन्हें राजमहल में अपने ताऊ तथा ताई नहीं मिले, तो स्वाभाविक था कि उन्हें सन्देह हुआ और उन्होंने सोचा कि वे गंगा की धारा में डूब गये। उन्होंने अपने आपको कृतघ्न माना, क्योंकि जब सारे पाण्डव पितृ-विहीन थे, तब महाराज धृतराष्ट्र ने रहने के लिए उन्हें सारी राजसी सुविधाएँ प्रदान की थीं, किन्तु एक वे हैं कि बदले में उन्होंने धृतराष्ट्र के सारे पुत्रों को कुरुक्षेत्र के युद्ध में मार डाला। पुण्यात्मा के रूप में, महाराज युधिष्ठिर ने अपने सारे अपरिहार्य दुष्कर्मों पर विचार किया, किन्तु उन्होंने कभी भी अपने ताऊ तथा उनके दल के दुष्कर्मों के विषय में नहीं सोचा। धृतराष्ट्र भगवान् की इच्छा से ही अपने दुष्कर्मों के फल भोग चुके थे, लेकिन महाराज युधिष्ठिर अपने अपरिहार्य दुष्कर्मों के ही विषय में सोच रहे थे। एक श्रेष्ठ मनुष्य तथा भगवद्भक्त का ऐसा ही स्वभाव होता है। एक भक्त कभी भी दूसरों में दोष नहीं निकालता, अपितु अपने ही दोषों को खोजने का प्रयास करता है और जहाँ तक सम्भव होता है, उन्हें सुधारने का प्रयास करता है।

पितर्युपरते पाण्डौ सर्वान्नः सुहृदः शिशून् ।

अरक्षतां व्यसनतः पितृव्यौ क्व गतावितः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

पितरि—मेरे पिता के; उपरते—मरने पर; पाण्डौ—महाराज पाण्डु के; सर्वान्—समस्त; नः—हम सबों का; सुहृदः—शुभचिन्तक; शिशून्—छोटे छोटे बालकों को; अरक्षताम्—रक्षा की; व्यसनतः—सभी प्रकार के संकटों से; पितृव्यौ—दोनों चाचाओं ने; क्व—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से।

जब मेरे पिता पाण्डु की मृत्यु हो गई और हम सभी छोटे-छोटे बालक थे, तो इन दोनों चाचा-ताऊ ने हमें समस्त प्रकार की विपत्तियों से बचाया था। वे सदैव हमारे शुभचिन्तक रहे। हाय! वे यहाँ से कहाँ चले गये?

सूत उवाच

कृपया स्नेहवैक्लव्यात्सूतो विरहकर्षितः ।

आत्मेश्वरमचक्षाणो न प्रत्याहातिपीडितः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; कृपया—करुणा से; स्नेह-वैकलव्यात्—अत्यधिक स्नेह के कारण मानसिक असंतुलन से; सूतः—सञ्जय; विरह-कशितः—वियोग से दुखी; आत्म-ईश्वरम्—अपने स्वामी को; अचक्षाणः—न देखने से; न—नहीं; प्रत्याह—उत्तर दिया; अति-पीडितः—अत्यधिक दुखी होकर।

सूत गोस्वामी ने कहा : करुणा तथा मानसिक क्षोभ के कारण, संजय अपने स्वामी धृतराष्ट्र को न देखने से अत्यन्त दुखी थे, अतएव वे महाराज युधिष्ठिर को ठीक से उत्तर नहीं दे सके।

तात्पर्य : सञ्जय दीर्घकाल तक महाराज धृतराष्ट्र के निजी सहायक रहे, अतएव उन्हें धृतराष्ट्र के जीवन का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ था। अतः जब उन्होंने देखा कि उनकी जानकारी के बिना धृतराष्ट्र घर से चले गये, तो उनके शोक का ठिकाना नहीं रहा। वे धृतराष्ट्र के प्रति अत्यन्त करुणामय थे, क्योंकि कुरुक्षेत्र युद्धरूपी जुए में, वे सर्वस्व, सारे पुरुष तथा धन, हार चुके थे और अन्त में राजा तथा रानी को हताशा में घर छोड़ देना पड़ा। उन्होंने इस परिस्थिति का अध्ययन अपने ढंग से किया, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात न था कि विदुर द्वारा धृतराष्ट्र की अन्तर्दृष्टि जगाई जा चुकी है और वे गृह-रूपी अंधे कुएँ से निकल कर श्रेष्ठतर जीवन बिताने के लिए घर छोड़ गए हैं। जब तक किसी को इस जीवन के त्याग के पश्चात् श्रेष्ठतर जीवन की आशा नहीं होती, तब तक वह केवल कृत्रिम वेश में, अथवा घर से बाहर रह कर संन्यासी-जीवन में चिपका नहीं रह सकता।

विमृज्याश्रूणि पाणिभ्यां विष्टभ्यात्मानमात्मना ।

अजातशत्रुं प्रत्यूचे प्रभोः पादावनुस्मरन् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

विमृज्य—पोंछ कर; अश्रूणि—आँखों के आँसुओं को; पाणिभ्याम्—अपने हाथों से; विष्टभ्य—स्थित; आत्मानम्—मन को; आत्मना—बुद्धि से; अजात-शत्रुम्—महाराज युधिष्ठिर को; प्रत्यूचे—उत्तर देने लगा; प्रभोः—अपने स्वामी के; पादौ—पाँवों का; अनुस्मरन्—चिन्तन करते हुए।

पहले उन्होंने बुद्धि द्वारा अपने मन को शान्त किया, फिर अश्रु पोंछते हुए तथा अपने स्वामी धृतराष्ट्र के चरणों का स्मरण करते हुए, वे महाराज युधिष्ठिर को उत्तर देने लगे।

सञ्जय उवाच

नाहं वेद व्यवसितं पित्रोर्वः कुलनन्दन ।

गान्धार्या वा महाबाहो मुषितोऽस्मि महात्मभिः ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

सञ्जयः उवाच—संजय ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; व्यवसितम्—संकल्प; पित्रोः—चाचाओं का; वः—आपके; कुल-नन्दन—हे कुरुवंश की सन्तान; गान्धार्याः—गान्धारी का; वा—अथवा; महा-बाहो—हे महान् राजा; मुषितः—धोखा दिया गया, ठगा गया; अस्मि—हूँ; महा-आत्मभिः—उन महात्माओं द्वारा।

संजय ने कहा : हे कुरुवंशी, मुझे आपके दोनों ताउओं तथा गान्धारी के संकल्प का कुछ भी पता नहीं है। हे राजन्, उन महात्माओं द्वारा मैं तो ठगा गया।

तात्पर्य : यह जानकर आश्चर्य होगा कि महात्मा अन्यो को धोखा देते (ठगते) हैं, किन्तु यह तथ्य है कि महात्मा महत् कार्य के लिए अन्यो को ठगते हैं। कहा जाता है कि भगवान् कृष्ण ने युधिष्ठिर को सलाह दी थी कि वे द्रोणाचार्य के समक्ष असत्य बोलें और यह भी एक महान् उद्देश्य के लिए था। चूँकि भगवान् इसे चाहते थे, अतः यह महान् उद्देश्य था। जो प्रामाणिक भक्त है, उसके समक्ष एकमात्र कसौटी है भगवान् की प्रसन्नता और उसके जीवन की चरम सिद्धि यह है कि अपने धर्म द्वारा भगवान् को प्रसन्न किया जाय। यह गीता तथा भागवत का निर्णय है।* गांधारी समेत धृतराष्ट्र तथा विदुर ने, संजय से अपना संकल्प प्रकट नहीं किया, यद्यपि वह निजी सहायक के रूप में धृतराष्ट्र के साथ निरन्तर रहता था। संजय ने यह कभी नहीं सोचा था कि धृतराष्ट्र उससे पूछे बिना कोई काम करेंगे। किन्तु धृतराष्ट्र का घर से निकल जाना इतना गोपनीय था कि संजय को भी इसका पता नहीं चल पाया। सनातन गोस्वामी ने भी बन्दी-गृह के पहरेदार को धोखा दिया, तभी वे श्री चैतन्य महाप्रभु से मिल पाये थे। इसी प्रकार रघुनाथ दास गोस्वामी ने भी अपने पुरोहित को धोखा देकर भगवान् को प्रसन्न करने के लिए घर छोड़ा था। भगवान् को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ भी किया जाय वह उत्तम है, क्योंकि यह परम सत्य से सम्बन्धित रहता है। हमने भी अपने परिवार वालों को धोखा दिया था और श्रीमद्भागवत की सेवा में लगने के लिए घर छोड़ा था। एक महान् कार्य के लिए इस तरह धोखा देना आवश्यक था और ऐसे दिव्य षड्यंत्र में किसी भी पक्ष को कोई क्षति नहीं होती।

अथाजगाम भगवान् नारदः सहतुम्बुरुः ।

प्रत्युत्थायाभिवाद्याह सानुजोऽभ्यर्चयन्मुनिम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तत्पश्चात्; आजगाम—आ पहुँचे; भगवान्—दैवी पुरुष; नारदः—नारद; सह-तुम्बुरुः—अपने तंबूरे के साथ; प्रत्युत्थाय—अपने-अपने आसनों से उठकर; अभिवाद्य—प्रणाम करके; आह—कहा; स-अनुजः—अपने छोटे भाइयों समेत; अभ्यर्चयन्—अच्छे मन से स्वागत करते हुए; मुनिम्—मुनि से।

*footnote starts here

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।

स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ (भगवद्गीता १८.४६)

अतः पुम्भिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रम-विभागशः।

स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरि-तोषणम् ॥ (भागवत १.२.१३)

footnote ends here

जब संजय इस प्रकार बोल रहे थे, तो शक्तिसम्पन्न दैवी पुरुष श्रीनारद अपना तंबूरा लिए हुए वहाँ प्रकट हुए। महाराज युधिष्ठिर ने अपने भाइयों समेत, अपने-अपने आसन से उठकर प्रणाम करते हुए उनका विधिवत् स्वागत किया।

तात्पर्य : देवर्षि नारद को यहाँ पर भगवान् कहा गया है, क्योंकि वे भगवान् के परम विश्वसनीय भक्त हैं। जो लोग भगवान् की प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं, उन्हें भगवान् तथा उनके अत्यन्त विश्वास-पात्र भक्तों को एक ही जैसा माना जाता है। भगवान् को ऐसे विश्वास-पात्र भक्त अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि वे भगवान् के यश का गुणगान करने के लिए अपनी विभिन्न क्षमता के अनुसार सर्वत्र विचरण करते रहते हैं और अभक्तों को भक्त बनाने के लिए प्रयास करते रहते हैं, जिससे उन्हें सचेतन स्तर पर लाया जा सके। वास्तव में कोई भी जीव अपनी वैधानिक स्थिति के कारण अभक्त नहीं हो सकता, किन्तु जब कोई अभक्त या नास्तिक बन जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह व्यक्ति अपने जीवन की समुचित अवस्था में नहीं है। भगवान् के विश्वासपात्र भक्त ऐसे मोहग्रस्त जीवों का उपचार करते हैं, अतएव वे भगवान् की नजरों में प्रिय माने जाते हैं। भगवान् भगवद्गीता में कहते हैं कि जो नास्तिकों तथा अभक्तों को भक्त बनाने के लिए भगवान् की महिमा का प्रचार करते हैं, उनसे अधिक प्रिय उन्हें अन्य कोई नहीं है। नारद जैसे महापुरुषों को उसी प्रकार का समुचित सम्मान मिलना चाहिए, जिस प्रकार साक्षात् भगवान् को मिलता है। महाराज युधिष्ठिर अपने सुयोग्य भाइयों समेत नारद जैसे शुद्ध भगवद्भक्त का

सम्मान करना अन्यो के लिए अनुकरणीय हैं, जिनके लिए अपनी वीणा लिए हुए भगवान् का गुणगान करने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच

नाहं वेद गतिं पित्रोर्भगवन् क्र गतावितः ।

अम्बा वा हतपुत्रार्ता क्र गता च तपस्विनी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

युधिष्ठिरः उवाच—महाराज युधिष्ठिर ने कहा; न—नहीं; अहम्—मैं; वेद—जानता हूँ; गतिम्—प्रयाण; पित्रोः—चाचाओं का; भगवन्—हे देवी पुरुष; क्र—कहाँ; गतौ—चले गये; इतः—इस स्थान से; अम्बा—ताई; वा—अथवा; हत-पुत्रा—अपने पुत्रों के मारे जाने से; आर्ता—दुखी; क्र—कहाँ; गता—गई हुई; च—भी; तपस्विनी—साध्वी।

महाराज युधिष्ठिर ने कहा : हे देव पुरुष, मैं नहीं जानता कि मेरे दोनों चाचा कहाँ चले गये।

न ही मैं अपनी उन तपस्विनी ताई को देख रहा हूँ, जो अपने समस्त पुत्रों की क्षति के कारण शोक से व्याकुल थीं।

तात्पर्य : महात्मा तथा भगवद्भक्त के रूप में महाराज युधिष्ठिर सदैव अपनी ताई की महान् क्षति तथा तपस्विनी के रूप में उनके कष्टों के प्रति सदैव जागरूक रहे। तपस्वी सभी प्रकार के कष्टों से कभी विचलित नहीं होता। इससे तो वह और भी मजबूत तथा आध्यात्मिक प्रगति के पथ पर दृढ़ होता है। महारानी गांधारी अनेक अग्नि-परीक्षाओं में अपने अद्भुत चरित्र के कारण तपस्विनी का एक अद्भुत उदाहरण हैं। वे माता, पत्नी तथा तपस्विनी के रूप में एक आदर्श महिला थीं और विश्व के इतिहास में ऐसे चरित्र वाली महिला विरले ही पाई जाती है।

कर्णधार इवापारे भगवान् पारदर्शकः ।

अथाबभाषे भगवान् नारदो मुनिसत्तमः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

कर्ण-धारः—जहाज के कप्तान; इव—सदृश; अपारे—विस्तृत सागर में; भगवान्—भगवान् के प्रतिनिधि; पार-दर्शकः—दूसरी ओर ले जानेवाले; अथ—इस प्रकार; आबभाषे—कहने लगे; भगवान्—देव पुरुष; नारदः—ऋषि नारद; मुनि-सत्-तमः—भक्त-चिन्तकों में सर्वश्रेष्ठ।

आप इस अपार समुद्र में जहाज के कप्तान सदृश हैं और आप ही हमें अपने गन्तव्य का मार्ग दिखा सकते हैं। इस प्रकार से सम्बोधित किये जाने पर, देव-पुरुष, भक्तों में सर्वश्रेष्ठ चिन्तक देवर्षि नारद कहने लगे।

तात्पर्य : दार्शनिक चिन्तक कई प्रकार के होते हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़े वे हैं, जिन्होंने भगवान् का दर्शन पा लिया है और भगवान् की प्रेमामयी दिव्य सेवा में अपने को समर्पित कर दिया है। भगवान् के ऐसे समस्त शुद्ध भक्तों में देवर्षि नारद प्रमुख हैं, अतएव यहाँ पर उन्हें सभी दार्शनिक भक्तों में सबसे बड़ा बताया गया है। जब तक कोई प्रामाणिक गुरु से वेदान्त-दर्शन का श्रवण करके विद्वान् दार्शनिक नहीं बन लेता, तब तक वह विद्वान् दार्शनिक भक्त नहीं हो सकता। उसे अत्यन्त श्रद्धालु, विद्वान् तथा विरक्त होना चाहिए, अन्यथा वह शुद्ध भक्त नहीं बन सकता। भगवान् का शुद्ध भक्त ही हमें अज्ञान-सागर की दूसरी ओर जाने का मार्गदर्शन कर सकता है। देवर्षि नारद महाराज युधिष्ठिर के महल में आया करते थे, क्योंकि सारे पाण्डव भगवान् के शुद्ध भक्त थे और देवर्षि नारद आवश्यकता पड़ने पर उन्हें अच्छी सलाह देने के लिए सदैव तैयार रहते थे।

नारद उवाच

मा कञ्चन शुचो राजन् यदीश्वरवशं जगत् ।

लोकाः सपाला यस्येमे वहन्ति बलिमीशितुः ।

स संयुनक्ति भूतानि स एव वियुनक्ति च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

नारदः उवाच—नारद ने कहा; मा—कभी नहीं; कञ्चन—सभी प्रकार से; शुचः—मत शोक करो; राजन्—हे राजा; यत्—क्योंकि; ईश्वर-वशम्—भगवान् के वश में; जगत्—संसार; लोकाः—सारे जीव; स-पालाः—अपने नेताओं समेत; यस्य—जिसका; इमे—ये सब; वहन्ति—ले जाते हैं; बलिम्—पूजा का साधन; ईशितुः—रक्षित होने के लिए; सः—वह; संयुनक्ति—पास लाता है; भूतानि—सारे जीवों को; सः—वह; एव—भी; वियुनक्ति—विलग करता है; च—तथा।

श्रीनारद ने कहा : हे धर्मराज, आप किसी के लिए शोक मत करो, क्योंकि सारे लोग परमेश्वर के अधीन हैं। अतएव सारे जीव तथा उनके नेता (लोकपाल) अपनी रक्षा के लिए पूजा करते हैं। वे ही सबों को पास-पास लाते हैं तथा उन्हें विलग करते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह इस जगत में हो या आध्यात्मिक जगत में, परमेश्वर के अधीन है। इस ब्रह्माण्ड के नायक ब्रह्माजी से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक, सभी परमेश्वर की आज्ञा का पालन

करनेवाले हैं। इस प्रकार जीव की स्वाभाविक स्थिति भगवान् के अधीन रहने की है। मूर्ख जीव, विशेषतया मनुष्य, झूठे ही परमेश्वर के नियम के विरुद्ध विद्रोह करता है और इस तरह असुर या नियम-भंग करने वाले के रूप में प्रताड़ित होता है। कोई भी जीव, परमेश्वर की आज्ञा से किसी विशेष स्थिति को प्राप्त होता है और वह परमेश्वर या उनके अधिकृत दूत के आदेश द्वारा ही किसी अन्य पद पर बिठाया जाता है। ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, महाराज युधिष्ठिर या आधुनिक इतिहास के नैपोलियन, अकबर, सिकन्दर, गाँधी, सुभाष तथा नेहरू—सभी भगवान् के दास हैं और परमेश्वर की परम इच्छा से ही अपने स्थानों पर बिठाये तथा उनसे हटाये जाते हैं। इनमें से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। यद्यपि ऐसे लोग या नेता विद्रोह करके भगवान् की श्रेष्ठता को मान्यता नहीं प्रदान करते, किन्तु इसके लिए उन्हें विभिन्न कष्टों द्वारा भौतिक संसार के और अधिक कठोर नियमों के अन्तर्गत रखा जाता है। अतः जो मूर्ख व्यक्ति होगा, वही कहता है कि ईश्वर नहीं हैं। महाराज युधिष्ठिर को इस कटु सत्य के प्रति आश्चर्य किया जा रहा था, क्योंकि वे अपने चाचाओं तथा ताई के सहसा चले जाने से अत्यधिक व्याकुल थे। महाराज धृतराष्ट्र को यह स्थिति उनके पूर्वकर्मों के अनुसार प्राप्त हुई थी; वे भूतकाल में तमाम कष्ट भोग चुके थे या सुख पा चुके थे, लेकिन सौभाग्य से उन्हें विदुरजैसा छोटा भाई प्राप्त हुआ था और उन्होंने उनके उपदेश से मोक्ष प्राप्त करने के लिए इस संसार के सारे खरातों को बन्द करके गृह-त्याग कर दिया था।

सामान्यतया, कोई किसी योजना से अपने सुख तथा दुख के प्रवाह को बदल नहीं सकता। हर एक को काल के सूक्ष्म प्रबन्ध के अन्तर्गत उन्हें उसी रूप में ग्रहण करना होता है। उनका प्रतिरोध करने से कोई लाभ नहीं होता। अतएव सर्वश्रेष्ठ बात तो यह है कि मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का प्रयत्न करे और यह जन्मसिद्ध अधिकार मनुष्य को ही प्राप्त है, क्योंकि उसके मन तथा बुद्धि अत्यन्त विकसित होते हैं। मनुष्य जीवन में मोक्ष-लाभ के लिए, मनुष्य को ही, विभिन्न वैदिक आदेश उपलब्ध हैं। जो कोई उन्नत बुद्धि के इस सुअवसर का दुरुपयोग करता है, वह अधम है और उसे इसी जीवन में या भविष्य में विभिन्न प्रकार के कष्ट मिलते हैं। यही तरीका है, जिससे भगवान् सब पर नियंत्रण रखते हैं।

यथा गावो नसि प्रोतास्तन्त्यां बद्धाश्च दामभिः ।

वाक्तन्त्यां नामभिर्बद्धा वहन्ति बलिमीशितुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गावः—बैल; नसि—नाक से; प्रोताः—नाथी हुई; तन्त्याम्—डोरी से; बद्धाः—बँधी हुई; च—भी; दामभिः—रस्सियों से; वाक्-तन्त्याम्—वैदिक स्तोत्रों के जाल में; नामभिः—नाम पद्धति से; बद्धाः—बद्ध; वहन्ति—पालन करते हैं; बलिम्—आदेशों को; ईशितुः—परमेश्वर द्वारा नियंत्रित होने के लिए।

जिस प्रकार बैल एक लम्बी रस्सी से नाक से नत्थी होकर बंधन में रहता है, उसी तरह मनुष्य जाति विभिन्न वैदिक आदेशों से बँध कर परमेश्वर के आदेशों का पालन करने के लिए बद्ध है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव, चाहे वह मनुष्य हो या पशु या पक्षी, यही सोचता है कि वह स्वतंत्र है, किन्तु वास्तव में भगवान् के कठोर नियमों से कोई भी स्वतंत्र नहीं है। भगवान् के नियम कठोर हैं, क्योंकि किसी भी परिस्थिति में उनका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। धूर्त लोग मनुष्य-निर्मित नियमों से बच सकते हैं, किन्तु, परम विधि-नियन्ता की संहिता में, नियमों के उल्लंघन की तनिक भी सम्भावना नहीं होती। ईश्वर-निर्मित नियम में थोड़ा-सा भी परिवर्तन करनेवाले नियम-भंजक को काफी कष्ट उठाने पड़ सकते हैं। परमेश्वर के ऐसे नियम विभिन्न अवस्थाओं में धर्म-संहिता कहलाते हैं, किन्तु धर्म का सिद्धान्त सर्वत्र एक सा होता है, यह है, परमेश्वर के आदेशों का पालन करना। ऐसी है भौतिक जगत की दशा। सभी जीवों ने इस भौतिक संसार में अपनी रुचि से बद्ध जीवन का खतरा मोल ले रखा है और इस तरह वे प्रकृति के नियमों द्वारा जकड़े हुए हैं। इस बंधन से छूटने की एकमात्र विधि यह है कि परमेश्वर की आज्ञा का पालन किया जाय। लेकिन, माया के चंगुल से मुक्त होने के बजाय मूर्ख लोग विभिन्न पद-नामों से और अधिक बँध जाते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान, भारतीय, यूरोपीय, अमरीकी, चीनी इत्यादि कहलाते हैं और इस तरह वे अपने-अपने शास्त्रों या विधानों के प्रभाव में परमेश्वर के आदेशों का पालन करते हैं। राज्य के संवैधानिक नियम धार्मिक संहिता के अपूर्ण प्रतिरूप हैं। धर्मनिरपेक्ष राज्य या ईश्वर-विहीन राज्य नागरिकों को ईश्वरीय नियमों को तोड़ने की छूट देते हैं, किन्तु राज्य के नियमों का उल्लंघन करने से रोकते हैं; फल यह होता है कि मनुष्य-निर्मित अपूर्ण नियमों का पालन करने की अपेक्षा ईश्वर के नियमों को तोड़ने के कारण जनसामान्य को अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। प्रत्येक व्यक्ति भौतिक जगत के विधान की परिस्थिति के अन्तर्गत अपूर्ण है और इसकी तनिक भी सम्भावना नहीं है कि भौतिकता में सर्वाधिक उन्नत व्यक्ति भी पूर्ण विधान का पालन कर सके। दूसरी ओर ईश्वर के नियम हैं, जिनमें ऐसी अपूर्णता नहीं है। यदि

नेताओं को भगवान् के नियमों की शिक्षा दी जाय, तो उद्देश्यहीन व्यक्तियों की कामचलाऊ विधान सभा बनाने की कोई आवश्यकता ही न रहे। मानव-निर्मित कामचलाऊ नियमों में परिवर्तन की आवश्यकता तो रहती है, लेकिन ईश्वर-निर्मित नियमों में नहीं, क्योंकि वे परम पूर्ण भगवान् द्वारा पूर्ण बनाये गये हैं। धर्म-संहिताएँ या शास्त्रीय आदेश, जीव की विभिन्न दशाओं को देखते हुए, ईश्वर के मुक्त प्रतिनिधियों द्वारा बनाये गये हैं और सारे जीव, भगवान् के आदेशों का पालन करके, संसार-बंधन से मुक्त हो जाते हैं। किन्तु जीव की वास्तविक स्थिति तो परमेश्वर के सनातन सेवक की है। अपनी मुक्त अवस्था में वह दिव्य प्रेम से भगवान् की सेवा करता है और पूर्ण स्वतंत्रता का जीवन बिताता है—कभी-कभी भगवान् के समान स्तर पर, तो कभी-कभी उनसे भी बढ़कर। लेकिन इस बद्ध भौतिक जगत में प्रत्येक जीव अन्य जीवों के ऊपर प्रभुता जमाना चाहता है। इस तरह माया के भ्रम से यह प्रभुत्व जताने की प्रवृत्ति बद्ध भौतिक जीवन के आगे-आगे बढ़ते रहने का कारण बनती है। अतएव जब तक जीव सनातन सेवक भाव की मूल स्थिति को पुनः प्राप्त करके भगवान् की शरण ग्रहण नहीं करता, तब तक वह इस भौतिक जगत से अधिकाधिक बद्ध होता जाता है। यही *भगवद्गीता* तथा संसार के अन्य सभी मान्य शास्त्रों का अन्तिम उपदेश है।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।

इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; क्रीड-उपस्कराणाम्—खेल की वस्तुएँ; संयोग—मिलना; विगमौ—बिछुड़ना; इह—इस संसार में; इच्छया—इच्छा से; क्रीडितुः—खेल करने के लिए; स्याताम्—घटित होता है; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; ईश—परमेश्वर की; इच्छया—इच्छा से; नृणाम्—मनुष्यों की।

यथा क्रीडोपस्कराणां संयोगविगमाविह ।

इच्छया क्रीडितुः स्यातां तथैवेशेच्छया नृणाम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; क्रीड-उपस्कराणाम्—खेल की वस्तुएँ; संयोग—मिलना; विगमौ—बिछुड़ना; इह—इस संसार में; इच्छया—इच्छा से; क्रीडितुः—खेल करने के लिए; स्याताम्—घटित होता है; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; ईश—परमेश्वर की; इच्छया—इच्छा से; नृणाम्—मनुष्यों की।

जिस प्रकार खिलाड़ी अपनी इच्छानुसार खिलौनों को सजाता तथा बिगाड़ता है, उसी तरह भगवान् की परम इच्छा मनुष्यों को पास-पास लाती है और उन्हें विलग भी करती है।

तात्पर्य : हमें यह निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि हम जिस पद पर अभी हैं, वह हमारे अपने ही विगत कर्मों के अनुसार, परम इच्छा द्वारा नियोजित है। परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा के रूप में स्थित हैं, जैसा कि *भगवद्गीता* (१३.२३) में बताया गया है। अतएव वे हमारे जीवन की प्रत्येक अवस्था की गतिविधियों को जानते रहते हैं। वे हमें किसी विशेष पद पर बिठाकर, हमारे कर्मों का फल प्रदान करते हैं। धनी मनुष्य का बच्चा सम्पन्नता के बीच जन्म लेता है; किन्तु धनी मनुष्य के पुत्र के रूप में आने वाला बच्चा इस स्थान के योग्य था; अतः यह स्थान उसे ईश्वर की इच्छा से मिलता है। यदि उस बच्चे को किसी क्षण किसी दूसरे स्थान में ले जाया जाता है, तो वह भी परमेश्वर की इच्छा से होता है, भले ही बच्चा या पिता ऐसे सुखद सम्बन्ध से वियोग पसन्द न करें। यही बात निर्धन व्यक्ति पर भी लागू होती है। जीवों के मिलने या बिछुड़ने पर धनी या निर्धन कोई भी व्यक्तियों का कोई वश नहीं चलता। खिलाड़ी तथा उसके खिलौने के उदाहरण से किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए। कोई यह तर्क कर सकता है कि जब भगवान् हमें हमारे कर्मों का ही फल देने के लिए बाध्य हैं, तो खिलाड़ी का उदाहरण यहाँ पर उपयुक्त नहीं बैठता। लेकिन ऐसा नहीं है। हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि भगवान् की ही इच्छा परम है और वे किसी नियम से बँधे नहीं हैं। सामान्यतया कर्म का नियम यह है कि लोगों को उन्हीं के कर्मों का फल मिलता है, लेकिन विशेष मामलों में भगवान् की इच्छा से ऐसे कर्म-फल बदल भी जाते हैं। लेकिन यह बदलाप भगवान् की इच्छा से ही आ सकता है, अन्य किसी से नहीं। अतएव इस श्लोक में दिया गया खिलाड़ी का उदाहरण सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि भगवान् जो कुछ चाहते हैं, उसे करने के लिए परम स्वतंत्र हैं और चूँकि वे सभी प्रकार से पूर्ण हैं, अतएव उनके कर्मों या फलों में कोई त्रुटि नहीं रहती। जब किसी शुद्ध भक्त का मामला आता है, तब कर्म-फलों में ये परिवर्तन विशेष रूप से परमेश्वर द्वारा किये जाते हैं। *भगवद्गीता* (९.३०-३१) में आश्वासन दिया गया है कि भगवान् अपने उस शुद्ध भक्त को सारे पाप-फलों से बचाते हैं, जिसने उनकी शरण ग्रहण कर ली है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। विश्व के इतिहास में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं, जहाँ भगवान् द्वारा कर्म-फल बदले गये हैं। यदि भगवान् किसी के

विगत कर्मों के फलों को परिवर्तित कर सकते हैं, तो यह निश्चित है कि वे अपने ही कर्मों से या कर्मों के फलों से बँधे नहीं रहते। वे पूर्ण हैं और सारे नियमों के परे होते हैं।

यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम् ।
सर्वथा न हि शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

यत्—भले ही; मन्यसे—सोचते हो; ध्रुवम्—परम सत्य; लोकम्—लोगों की; अध्रुवम्—अवास्तविकता; वा—अथवा; न—नहीं; च—भी; उभयम्—अथवा दोनों; सर्वथा—सभी परिस्थितियों में; न—कभी नहीं; हि—निश्चय ही; शोच्याः—शोक का विषय; ते—वे; स्नेहात्—स्नेह के कारण; अन्यत्र—अथवा दूसरी तरह; मोह-जात्—मोह-जनित।

हे राजन्, सभी परिस्थितियों में, चाहे आप आत्मा को नित्य मानो अथवा भौतिक देह को नश्वर, अथवा प्रत्येक वस्तु को निराकार परम सत्य में स्थित मानो या प्रत्येक वस्तु को पदार्थ तथा आत्मा का अकथनीय संयोग मानो, वियोग की भावनाएँ केवल मोहजनित स्नेह के कारण हैं, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

तात्पर्य : वास्तविकता यह है कि प्रत्येक जीव परम पुरुष का व्यक्तिगत अंश है और उसकी स्वाभाविक स्थिति अधीनस्थ सहयोगी सेवक की है। चाहे जीव अपनी बद्ध अवस्था में हो अथवा ज्ञान तथा शाश्वतता से पूर्ण अपनी मुक्त अवस्था में हो, वह नित्य परमेश्वर के ही अधीन रहता है। लेकिन जो वास्तविक ज्ञान के जानकार नहीं हैं, वे जीव की वास्तविक स्थिति के विषय में तरह-तरह की कल्पनाएँ करते हैं। किन्तु दर्शन की सभी विचारधाराओं द्वारा यह स्विकार किया गया है कि जीव शाश्वत है और यह पाँच भौतिक तत्त्वों से बना शरीर रूपी ओढ़न विनाशशील तथा अस्थायी है। यह शाश्वत जीव, कर्म-नियम के द्वारा, एक भौतिक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है और ये भौतिक शरीर, अपनी मूलभूत संरचना के कारण, विनाशशील हैं। अतएव आत्मा के देहान्तरण के कारण या किसी अवस्था में भौतिक शरीर के विनष्ट होने से किसी तरह का शोक नहीं करना चाहिए। कुछ ऐसे लोग हैं, जो भौतिक बन्धन से छूटने पर, परमात्मा में आत्मा के तादात्म्य में विश्वास करते हैं। और कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानते, अपितु पदार्थ में विश्वास करते हैं। हमारे दैनिक जीवन में हम न जाने कितने पदार्थ अन्य पदार्थों में रूपान्तरित होते देखे जाते हैं, किन्तु हम ऐसे

परिवर्तनशील स्वरूपों के लिये शोक नहीं करते। प्रत्येक दशा में, दैवी शक्ति का वेग अप्रतिहत होता है, इसमें किसी का वश नहीं है, अतएव शोक करने का कोई कारण नहीं होता।

तस्माज्जह्यङ्ग वैक्लव्यमज्ञानकृतमात्मनः ।

कथं त्वनाथाः कृपणा वर्तेरंस्ते च मां विना ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; जहि—छोड़ दो; अङ्ग—हे राजा; वैक्लव्यम्—मानसिक विकलता; अज्ञान—अज्ञान; कृतम्—के कारण; आत्मनः—अपना; कथम्—कैसे; तु—लेकिन; अनाथाः—असहाय; कृपणाः—निरीह प्राणी; वर्तेरन्—जीवित रहने में समर्थ; ते—वे; च—भी; माम्—मेरे; विना—रहित।

अतएव तुम आत्मा को न जानने के कारण उत्पन्न अपनी चिन्ता छोड़ दो। अब आप यह सोच रहे है कि वे असहाय जीव तुम्हारे बिना किस तरह रहेंगे।

तात्पर्य : जब हम अपने सगे-सम्बन्धियों को असहाय तथा अपने ऊपर आश्रित सोचते हैं, तो यह अज्ञान के कारण होता है। परमेश्वर के आदेश से प्रत्येक जीव को इस संसार में उसकी अर्जित स्थिति के अनुसार सुरक्षा प्रदान की गई है। भगवान् भूत-भृत् कहलाते हैं, अर्थात् वे जो सभी जीवों को सुरक्षा प्रदान करते हैं। मनुष्य को केवल अपना कर्तव्य पालन करना चाहिए, क्योंकि परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई किसी को भी सुरक्षा प्रदान नहीं कर सकता। अगले श्लोक में इसकी स्पष्ट व्याख्या की गई है।

कालकर्मगुणाधीनो देहोऽयं पाञ्चभौतिकः ।

कथमन्यांस्तु गोपायेत्सर्पग्रस्तो यथा परम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

काल—शाश्वत समय; कर्म—कर्म; गुण—प्रकृति के गुण; अधीनः—के अधीन; देहः—भौतिक शरीर तथा मन; अयम्—यह; पाञ्च-भौतिकः—पाँच तत्त्वों से बना; कथम्—कैसे; अन्यान्—दूसरे; तु—लेकिन; गोपायेत्—सुरक्षा प्रदान करते हैं; सर्प-ग्रस्तः—साँप द्वारा दंशित; यथा—जिस तरह; परम्—दूसरे।

पाँच तत्त्वों से निर्मित यह स्थूल भौतिक शरीर पहले से ही सनातन काल, कर्म तथा भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन है। तो किस तरह से यह अन्यो की रक्षा कर सकता है, जबकि यह स्वयं सर्प के मुँह में फँसा हुआ है?

तात्पर्य : राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रचार द्वारा विश्व आन्दोलनों से किसी को कोई लाभ होनेवाला नहीं, क्योंकि ये श्रेष्ठ शक्ति द्वारा नियंत्रित होते हैं। बद्धजीव पूरी तरह से भौतिक प्रकृति के नियंत्रण में होता है, जो प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाववश होने वाले कर्म तथा सनातन काल के रूप में व्यक्त होता है। प्रकृति के तीन गुण हैं अर्थात् सत, रज तथा तम। सतोगुणी हुए बिना, मनुष्य वस्तुओं को असली रूप में नहीं देख पाता। रजो तथा तमोगुणी व्यक्ति वस्तुओं को उनके असली रूप में कभी नहीं देख पाता। अतएव रजोगुणी तथा तमोगुणी व्यक्ति अपने कार्यों को सही दिशा नहीं दे पाते, केवल सतोगुणी व्यक्ति ही कुछ हद तक ऐसा कर पाता है। चूँकि अधिकांश व्यक्ति राजसी तथा तामसी होते हैं, अतएव उनकी योजनाएँ तथा परियोजनाएँ शायद ही अन्यो को कुछ लाभ पहुँचा सकें। प्रकृति के गुणों के भी ऊपर शाश्वत समय होता है, जो काल कहलाता है, क्योंकि यह भौतिक जगत की हर वस्तु की आकृति को बदल देता है। यदि हम अस्थायी रूप से कोई लाभ-प्रद कार्य कर भी लें, तो समय बीतने पर काल द्वारा यह अच्छी परियोजना भी विनष्ट कर दी जाती है। यदि कुछ किया जा सकता है, तो इतना ही कि इस सनातन काल से छुटकारा पा लिया जाय, जिसकी तुलना काल-सर्प से की गई है, जिसका दंश सदैव जानलेवा होता है। कोई भी व्यक्ति सर्प-दंश से नहीं बच पाता। अतएव काल-सर्प अथवा प्रकृति के गुणों के चंगुल से बचने का सर्वश्रेष्ठ उपाय भक्तियोग है, जिसकी संस्तुति *भगवद्गीता* (१४.२६) में की गई है। सबसे पूर्ण लोकोपयोगी परियोजना यह है कि हर व्यक्ति को, विश्व भर में, भक्तियोग के प्रचार कार्य में लगाया जाय, क्योंकि उसी के द्वारा लोगों को काल, कर्म तथा गुण द्वारा व्यक्त माया के चंगुल से बचाया जा सकता है। *भगवद्गीता* (१४.२६) से इसकी स्पष्ट रूप से पुष्टि होती है।

अहस्तानि सहस्तानामपदानि चतुष्पदाम् ।

फल्गूनि तत्र महतां जीवो जीवस्य जीवनम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

अहस्तानि—हाथविहीनों के; स-हस्तानाम्—हाथ वालों के; अपदानि—पैर-विहीनों का; चतुः-पदाम्—चार पैर वालों का; फल्गूनि—निर्बल; तत्र—वहाँ; महताम्—शक्तिमानों को; जीवः—जीव; जीवस्य—जीव का; जीवनम्—जीवन निर्वाह, गुजारा।

जो बिना हाथ वाले हैं, वे हाथ वालों के शिकार हैं। जो पाँवों से विहीन हैं, वे चौपायों के शिकार हैं। निर्बल सबल के भोज्य हैं और सामान्य नियम यह है कि एक जीव दूसरे जीव का भोजन बना हुआ है।

तात्पर्य : अस्तित्व टिकाए रखने के लिए जीवन-संघर्ष का नियम भगवान् की परम इच्छा से है और कितनी भी योजनाओं के द्वारा किसी के भी लिए इससे छुटकारा नहीं मिल सकता। जो जीव इस संसार में परम पुरुष की इच्छा के विपरीत आये हैं, वे माया-शक्ति नामक उच्चतर शक्ति के अधीन रहते हैं, जो भगवान् द्वारा नियुक्त होती है। यह दैवी माया बद्धजीवों को तीन प्रकार के तापों से सताती रहती है, जिनमें से एक की व्याख्या इस श्लोक में हुई है—*निर्बल सबल का आहार है*। कोई भी, अपने से अधिक सबल के हमले से अपनी रक्षा नहीं कर सकता और भगवान् की इच्छा से निर्बल, सबल तथा सर्वाधिक सबल—ये तीन कोटियाँ बनी हुई हैं। यदि बाघ निर्बल पशु को, जिसमें मनुष्य भी सम्मिलित है, खा जाता है, तो इसमें शोक करने की कोई बात नहीं है, क्योंकि यह तो परमेश्वर का नियम है। यद्यपि नियम यह कहता है कि मनुष्य को किसी अन्य के जीवन पर जीवन-निर्वाह करना होता है, लेकिन सद्भाव का भी नियम है, क्योंकि मनुष्य को शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। अन्य जीवधारियों द्वारा ऐसा करना सम्भव नहीं होता। मनुष्य आत्म-साक्षात्कार के लिये आया है, इसलिये उसे भगवान् को अर्पित किये बिना कोई भी वस्तु नहीं खानी है। भगवान् अपने भक्तों से शाक, फल, पत्ती तथा अन्न के बने विविध व्यंजन स्वीकार करते हैं। अतएव फल, पत्ती तथा दूध के विविध पकवान भगवान् को अर्पित किये जा सकते हैं और जब भगवान् इन्हें पा लें, तो भक्त इस प्रसाद को ग्रहण कर सकता है, जिससे जीवन-संघर्ष के सारे क्लेश क्रमशः दूर हो जायेंगे। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२६) में हुई है। जो लोग पशुओं का भक्षण करने के आदी हो गये हैं, वे भी सीधे भगवान् को भोज्य-पदार्थ न अर्पित कर, धार्मिक अनुष्ठानों की कतिपय दशाओं में, भगवान् के किसी दूत को अर्पित कर सकते हैं। शास्त्रों का आदेश मांस-भक्षकों को प्रोत्साहित करना नहीं, अपितु नियमों के द्वारा उन पर प्रतिबन्ध लगाना है।

जीव अपने से अधिक सबल अन्य जीव का भक्ष्य होता है। किसी को किसी भी परिस्थिति में अपने जीवन-निर्वाह के लिए चिन्तित नहीं होना चाहिए, क्योंकि सर्वत्र ही जीव हैं और कहीं पर

भोजन के अभाव में एक भी जीव भूखों नहीं मरता। महाराज युधिष्ठिर को नारद जी उपदेश देते हैं कि भोजन के अभाव में अपने चाचाओं के कष्ट भोगने की चिन्ता न करें, क्योंकि वे जंगलों में उपलब्ध शाकों को भगवान् के प्रसाद के रूप में प्राप्त करके जीवित रह सकते हैं और इस तरह मोक्ष-मार्ग प्राप्त कर सकते हैं।

सबल द्वारा दुर्बल का शोषण प्राकृतिक अस्तित्व का नियम है; जीवों के विभिन्न साम्राज्यों में, निर्बल को निगल जाने का सदैव प्रयास होता रहता है। भौतिक परिस्थितियों में, किसी कृत्रिम साधन से इस प्रवृत्ति को रोके जाने की कोई सम्भावना नहीं है। इसे मनुष्य के आध्यात्मिक भाव को, आध्यात्मिक नियमों के अभ्यास द्वारा जगाकर ही रोका जा सकता है। किन्तु आध्यात्मिक विधि-विधान एक ओर मनुष्य को निर्बल पशुओं का वध करने तथा दूसरी ओर शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की शिक्षा नहीं देता। यदि मनुष्य पशुओं को शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की अनुमति नहीं देता, तो फिर वह किस तरह मानव समाज में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की उम्मीद कर सकता है? अतएव अन्धे नेताओं को चाहिए कि वे परम पुरुष को जानें और तब ईश्वर की राजसत्ता को लागू करने का प्रयास करें। विश्व के जन-समुदाय के मन में ईश्वर-चेतना को जगाये बिना ईश्वर राज्य या राम-राज्य असम्भव है।

तदिदं भगवान् राजत्रेक आत्मात्मनां स्वदृक् ।

अन्तरोऽनन्तरो भाति पश्य तं माययोरुधा ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

तत्—अतः; इदम्—यह अभिव्यक्ति; भगवान्—भगवान्; राजन्—हे राजन्; एकः—एक अद्वितीय; आत्मा—परमात्मा; आत्मनाम्—अपनी शक्तियों से; स्व-दृक्—गुणों में अपने ही जैसा; अन्तरः—बाहर; अनन्तरः—भीतर तथा अपने द्वारा; भाति—प्रकट करता है; पश्य—देखो; तम्—उन्हें ही; मायया—विभिन्न शक्तियों के प्राकट्य से; उरुधा—अनेक प्रतीत होता है।

अतएव हे राजन्, तुम्हें एकमात्र परमेश्वर को देखना चाहिए, जो अद्वितीय हैं और जो विभिन्न शक्तियों से साक्षात् प्रकट होते हैं और भीतर तथा बाहर दोनों में हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अद्वितीय हैं, किन्तु वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा स्वयं प्रकट होते हैं, क्योंकि वे स्वभाव से आनन्दमय हैं। सारे जीव भी उनकी तटस्था शक्ति के प्राकट्य हैं, जो गुणों में भगवान् के समान हैं और भगवान् की बहिरंगा तथा अंतरंगा शक्तियों के भीतर तथा बाहर,

दोनों ही जगह असंख्य जीव हैं। चूँकि आध्यात्मिक जगत भगवान् की अन्तरंगा शक्ति की अभिव्यक्ति हैं, अतएव जो जीव उस अन्तरंगा शक्ति के भीतर हैं, वे बहिरंगा शक्ति से दूषित हुए बिना, गुण में भगवान् समान ही हैं। जीव भगवान् से गुणों में एक होकर भी, भौतिक जगत के कल्मष के कारण विकृत रूप में दिखता है। अतएव उसे भौतिक जगत में तथाकथित सुख तथा दुख का अनुभव होता है। ऐसे अनुभव क्षणिक होते हैं और उनसे आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे क्षणिक सुख तथा दुख की अनुभूति अपने भगवान् के समान गुण की विस्मृति के कारण होती है। किन्तु भगवान् से भीतर तथा बाहर एक नियमित धारा प्रवाहित होती रहती है, जिससे जीव अपनी पतित अवस्था को सुधार सकता है। भीतर से, वे अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में इच्छा करनेवाले जीवों को सुधारते हैं और बाहर से, वे गुरु तथा शास्त्रों के रूप में अपनी अभिव्यक्ति द्वारा सुधारते रहते हैं। मनुष्य को भगवान् की ओर ही दृष्टि लगानी चाहिए। उसे तथाकथित सुख तथा दुख प्रकट होने पर विचलित नहीं होना चाहिए, अपितु पतितात्माओं का सुधार करने के भगवान् के बाह्यकार्यों में उनकी सहायता करनी चाहिए। उन्हीं के आदेश से ही मनुष्य को आध्यात्मिक गुरु बनकर उनको सहयोग देना चाहिए। किसी को अपने निजी लाभ के लिए, आजीविका कमाने के लिए अथवा धन्धे के साधन के लिए गुरु नहीं बनना चाहिए। ऐसे प्रामाणिक गुरु जो भगवान् को सहयोग देने के लिए भगवान् की ओर दृष्टि लगाते हैं, वे गुणात्मक रूप से भगवान् से एक होते हैं और भुलकड़ जीव केवल विकृत प्रतिबिम्ब मात्र होते हैं। अतएव युधिष्ठिर महाराज को नारद उपदेश देते हैं कि वे तथाकथित सुख तथा दुख के मामलों से तनिक भी विचलित न हों, अपितु भगवान् के उस ध्येय को पूरा करने के लिए भगवान् की ओर देखें, जिसके लिए भगवान् अवतरित हुए हैं। यही उनका मूल कर्तव्य है।

सोऽयमद्य महाराज भगवान् भूतभावनः ।

कालरूपोऽवतीर्णोऽस्यामभावाय सुरद्विषाम् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—वे परमेश्वर; अयम्—भगवान् श्रीकृष्ण; अद्य—इस समय; महाराज—हे राजा; भगवान्—भगवान्; भूत-भावनः—प्रत्येक सृजित वस्तु के स्रष्टा या पिता; काल-रूपः—सर्वभक्षी काल के वेश में; अवतीर्णः—अवतरित; अस्याम्—विश्व पर; अभावाय—निकाल फेंकने के लिए; सुर-द्विषाम्—जो लोग भगवान् की इच्छा के विरुद्ध हैं, उन्हें।

वे ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण, सर्वभक्षी काल के वेश (कालरूप) में, अब संसार से द्वेषी लोगों का सर्वनाश करने के लिए पृथ्वी पर अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : मनुष्य की दो श्रेणियाँ हैं—द्वेषी तथा आज्ञा-पालक। चूँकि परमेश्वर एक हैं और वे सभी जीवों के पिता हैं, अतएव द्वेषी लोग भी उन्हीं की सन्तान हैं, लेकिन वे असुर कहलाते हैं। किन्तु जो जीव सर्वोपरि पिता के प्रति आज्ञाकारी है, वे देवता कहलाते हैं, क्योंकि वे जीवन की भौतिक अवधारणा द्वारा कलुषित नहीं होते हैं। असुर लोग न केवल भगवान् के अस्तित्व को नकार करके द्वेष दिखाते हैं, अपितु वे अन्य समस्त जीवों से भी द्वेष रखते हैं। जगत में असुरों के प्राधान्य को कभी-कभी भगवान् उनको पूरी तरह विनष्ट करके ठीक करते हैं और पाण्डव जैसे देवताओं का राज्य स्थापित करते हैं। छद्मरूप में काल नाम की उनकी उपाधि महत्त्वपूर्ण है। वे रंचमात्र भी भयावह नहीं हैं, अपितु वे शाश्वतता, ज्ञान तथा आनन्द के दिव्य रूप हैं। जो भक्त हैं, उनके सामने उनका वास्तविक रूप प्रकट होता है, किन्तु जो अभक्त हैं उनके लिए वे कालरूप में प्रकट होते हैं, जो उनका कारण-रूप है। भगवान् का यह कारण-रूप असुरों को तनिक भी सुहावना नहीं लगता, अतएव वे भगवान् को निराकार मान लेते हैं, जिससे उनको (झूठी) सुरक्षा की भावना का अनुभव हो और वे ऐसा सोच सकें कि अब उन्हें भगवान् द्वारा नष्ट नहीं किया जाएगा।

निष्पादितं देवकृत्यमवशेषं प्रतीक्षते ।

तावद् यूयमवेक्षध्वं भवेद् यावदिहेश्वरः ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

निष्पादितम्—सम्पन्न; देव-कृत्यम्—देवताओं की ओर से जो कुछ होना था; अवशेषम्—शेष; प्रतीक्षते—प्रतीक्षित होकर; तावत्—उस समय तक; यूयम्—आप सारे पाण्डव; अवेक्षध्वम्—देखो तथा प्रतीक्षा करो; भवेत्—हो; यावत्—जब तक; इह—इस संसार में; ईश्वरः—परमेश्वर।

भगवान् ने देवताओं की सहायता करने का अपना कर्तव्य पहले ही पूरा कर दिया है और जो शेष है, उसके लिए वे प्रतीक्षारत हैं। आप सभी पाण्डव तब तक प्रतीक्षा कर सकते हो, जब तक भगवान् इस धरा पर उपस्थित हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने धाम (कृष्णलोक) से, जो आध्यात्मिक आकाश का सर्वोच्च लोक है, इस भौतिक विश्व के देव-शासकों की सहायता करने के लिए तब-तब अवतरित होते हैं, जब-जब वे

उन असुरों द्वारा अत्यधिक सताये जाते हैं, जो न केवल भगवान् से अपितु उनके भक्तों से भी द्वेष रखते हैं। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, बद्धजीव अपनी ही रुचि से भौतिक जगत के साधनों पर प्रभुत्व जताने की अपनी प्रबल इच्छा द्वारा प्रेरित होकर भौतिक संसर्ग में आते हैं और वे सभी वस्तुओं के नकली स्वामी बन बैठते हैं। प्रत्येक व्यक्ति नकली ईश्वर बनना चाहता है; ऐसे नकली ईश्वरों में प्रबल होड़ लगी रहती है और ऐसे प्रतियोगी सामान्यतया असुर कहलाते हैं। जब संसार में असुरों की संख्या बढ़ जाती है, तब यह जगत भगवद्भक्तों के लिए नरक बन जाता है। असुरों की वृद्धि के कारण जनता, जो स्वाभाविक रूप से भगवान् की भक्ति को समर्पित होती है और उच्चलोक के देवताओं समेत भगवान् के शुद्ध भक्त उद्धार के लिए भगवान् से प्रार्थना करते हैं, और तब भगवान् या तो स्वयं अपने धाम से नीचे आते हैं या अपने भक्तों में से किसी को मानव या पशु-समाज की गिरी दशा सुधारने के लिए नियुक्त करते हैं। ऐसी अशान्ति केवल मानव समाज में ही नहीं, अपितु पशुओं, पक्षियों या उच्च लोकों के देवताओं सहित अन्य जीवों के बीच भी मचती रहती है। भगवान् श्रीकृष्ण तब कंस, जरासंध तथा शिशुपाल जैसे असुरों का वध करने के लिए स्वयं अवतरित हुए। महाराज युधिष्ठिर के शासनकाल में लगभग इन सारे असुरों का वध भगवान् ने किया। अब वे अपने ही वंश, यदुवंश के विनाश की प्रतीक्षा में थे, जो इस संसार में उनकी अपनी इच्छा से ही प्रकट हुआ था। वे अपने स्वयं के नित्य धाम जाने के पूर्व इस वंश को समेट लेना चाहते थे। नारद ने, विदुर की तरह, यदुवंश के आसन्न विनाश की बात प्रकट नहीं होने दी, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने राजा तथा उनके भाइयों से संकेत कर दिया कि वे इस घटना के घटने तथा भगवान् के प्रयाण करने तक प्रतीक्षा करें।

धृतराष्ट्रः सह भ्रात्रा गान्धार्या च स्वभार्यया ।

दक्षिणेन हिमवत ऋषीणामाश्रमं गतः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

धृतराष्ट्रः—धृतराष्ट्र; सह—साथ; भ्रात्रा—अपने भाई विदुर के; गान्धार्या—गांधारी भी; च—तथा; स्व-भार्यया—अपनी पत्नी; दक्षिणेन—दक्षिण दिशा में; हिमवतः—हिमालय पर्वत के; ऋषीणाम्—ऋषियों का; आश्रमम्—आश्रम में; गतः—गये।

हे राजन्, आपके चाचा धृतराष्ट्र, उनके भाई विदुर तथा उनकी पत्नी गांधारी, हिमालय के दक्षिण की ओर गये हैं, जिधर बड़े-बड़े ऋषियों के आश्रम हैं।

तात्पर्य : शोकातुर महाराज युधिष्ठिर को ढाढ़स बँधाने के लिए, सर्वप्रथम नारद ने दार्शनिक दृष्टि से उपदेश दिया और फिर अपनी दिव्य दृष्टि से देखते हुए, उनके बड़े चाचा की भावी गतिविधियों का वर्णन करना प्रारम्भ किया, जो इस प्रकार है।

स्रोतोभिः सप्तभिर्या वै स्वर्धुनी सप्तधा व्यधात् ।

सप्तानां प्रीतये नाना सप्तस्रोतः प्रचक्षते ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

स्रोतोभिः—धाराओं से; सप्तभिः—सात (भाग); या—नदी; वै—निश्चय ही; स्वर्धुनी—पवित्र गंगा; सप्तधा—सात शाखाएँ; व्यधात्—उत्पन्न किया; सप्तानाम्—सातों की; प्रीतये—तुष्टि के लिए; नाना—विविध; सप्त-स्रोतः—सात स्रोत; प्रचक्षते—नाम से ज्ञात।

यह स्थान सप्तस्रोत (सात द्वारा विभाजित) कहलाता है, क्योंकि यहाँ पर पवित्र गंगा नदी का जल सात शाखाओं में विभाजित किया गया था। ऐसा महान् सप्तर्षियों की तुष्टि के लिए किया गया था।

स्नात्वानुसवनं तस्मिन्हुत्वा चाग्नीन्यथाविधि ।

अब्भक्ष उपशान्तात्मा स आस्ते विगतैषणः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

स्नात्वा—स्नान करके; अनुसवनम्—नियमित रूप से तीन बार (प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय); तस्मिन्—सप्तधा गंगा में; हुत्वा—अग्निहोत्र यज्ञ करके; च—भी; अग्नीन्—अग्नि में; यथा-विधि—शास्त्र के नियमों के अनुसार; अप्-भक्षः—केवल जल पीकर उपवास करके; उपशान्त—पूर्ण रूप से संयमित; आत्मा—स्थूल इन्द्रियों तथा सूक्ष्म मन; सः—धृतराष्ट्र; आस्ते—स्थित होंगे; विगत—रहित; एषणः—पारिवारिक कुशलता-सम्बन्धी विचार।

इस समय सप्तस्रोत के तट पर धृतराष्ट्र नित्य तीन बार प्रातः, दोपहर तथा संध्या समय, स्नान करके, अग्निहोत्र यज्ञ सम्पन्न करके तथा केवल जल पीकर अष्टांग योग का अभ्यास करने में लगे हैं। इससे मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों पर संयम रखने में सहायता मिलती है और वह पारिवारिक स्नेह-सम्बन्धी विचारों से सर्वथा मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : योग-पद्धति इन्द्रियों तथा मन को वश में करने तथा उन्हें पदार्थ से आत्मा की ओर मोड़ने की यांत्रिक विधि है। इसकी प्रारम्भिक विधियाँ हैं—आसन, ध्यान, आध्यात्मिक विचार, प्राणायाम, समाधि तथा परम पुरुष परमात्मा की ओर उन्मुख होना। इस तरह की यांत्रिक विधि से

आध्यात्मिक पद तक ऊपर उठने के लिए कुछ विधान नियत किए गए हैं—दिन में तीन बार स्नान करना, जहाँ तक सम्भव हो उपवास करना, आसन मारकर मन को आध्यात्मिक विषयों में एकाग्र करना तथा इस प्रकार धीरे-धीरे विषय अर्थात् भौतिक ध्येय से मुक्त होना। भौतिक जगत का अर्थ है भौतिक विषय में लिप्त होना, जो भ्रम मात्र है। घर, देश, परिवार, समाज, सन्तान, सम्पत्ति तथा व्यापार—ये आत्मा के कतिपय आवरण हैं। योग-पद्धति इन मोहमय विचारों से मुक्त होने और क्रमशः परम पुरुष परमात्मा की ओर मुड़ने में सहायक होती है। भौतिक संगति तथा शिक्षा द्वारा हम व्यर्थ की वस्तुओं में केन्द्रित होना सीखते हैं, लेकिन योग ऐसी विधि है, जिससे हम इन्हें पूरी तरह से भूल जाते हैं। आधुनिक तथाकथित योगी तथा योग-पद्धतियाँ कुछ जादू जैसे करतब दिखाती हैं और अज्ञानी लोग ऐसी झूठी बातों के प्रति आकृष्ट हो जाते हैं, अथवा वे स्थूल शरीर के रोगों को अच्छा करने के लिए, इसे एक सस्ती विधि के रूप में मानते हैं। लेकिन वास्तव में, योग-पद्धति वह विधि है, जिससे हमने जीवन-सघर्ष के दौरान जो कुछ सीखा है, उसे हम भुला सकें। धृतराष्ट्र आजीवन अपने पुत्रों के लिए पाण्डवों की सम्पत्ति छीनकर उनका जीवन-स्तर ऊँचा करके पारिवारिक मामलों को सुधारने में व्यस्त रहे। नितान्त भौतिकतावादी एवं आध्यात्मिक शक्ति के ज्ञान से रहित व्यक्ति के लिए यही सामान्य व्यापार हैं। वह यह नहीं देख पाता कि ये किस तरह उसे स्वर्ग से नरक में घसीट कर ले जा सकते हैं। किन्तु अपने छोटे भाई विदुर के अनुग्रह से, धृतराष्ट्र को ज्ञान हुआ और वे अपने निपट मोहयुक्त व्यापारों को देख पाये और ऐसे ज्ञान के कारण ही वे आत्मानुभूति के लिए अपना घर छोड़ सके। श्री नारददेव ऐसे स्थान पर, जो स्वर्गिक गंगा के प्रवाह से पवित्र था, उनकी आध्यात्मिक प्रगति की भविष्यवाणी कर रहे थे। बिना भोजन किये केवल जल पीकर रहना भी उपवास करना माना जाता है। आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है। मूर्ख व्यक्ति विधि-विधानों का पालन किये बिना सस्ता योगी बनना चाहता है। सर्वप्रथम जिस व्यक्ति की अपनी जीभ पर लगाम नहीं है, वह कभी योगी नहीं बन सकता। *योगी* तथा *भोगी* दो विरोधी शब्द हैं। भोगी अर्थात् जो खाता-पीता, मौज करता है, वह योगी नहीं बन सकता, क्योंकि योगी को मनमाना खाने तथा पीने की छूट कभी भी नहीं है। हमें इस बात पर ध्यान देने से लाभ होगा कि धृतराष्ट्र ने केवल जल पीकर तथा एकान्त में बैठकर भगवान् हरि के विचारों में तन्मय होकर कैसे अपना योग प्रारम्भ किया था।

जितासनो जितश्वासः प्रत्याहृतषडिन्द्रियः ।

हरिभावनया ध्वस्तरजःसत्त्वतमोमलः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

जित-आसनः—जिसने आसनों पर विजय प्राप्त कर ली है; जित-श्वासः—जिसने श्वास-प्रक्रम को वश में कर लिया है; प्रत्याहृत—पीछे मुड़कर; षट्—छः; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; हरि—भगवान् में; भावनया—तन्मय; ध्वस्त—विजित; रजः—रजोगुण; सत्त्व—सत्त्वगुण; तमः—तमोगुण; मलः—कल्मष।

जिसने यौगिक आसनों तथा श्वास लेने की विधि को वश में कर लिया है, वह अपनी इन्द्रियों को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के प्रति मोड़कर भौतिक प्रकृति के गुणों अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण के कल्मष के प्रति निर्लिप्त बन जाता है।

तात्पर्य : योग-विधि की प्रारम्भिक गतिविधियाँ हैं आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, इत्यादि। महाराज धृतराष्ट्र को इन प्रारम्भिक कार्यों में सफलता प्राप्त करनी थी, क्योंकि वे पवित्र स्थान पर आसीन थे और एक ही लक्ष्य अर्थात् (हरि) पर ध्यान लगाये हुए थे। इस तरह उनकी सारी इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी थीं। यह विधि भक्त को भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के कल्मष से मुक्ति दिलाने में सहायक होती है। जब भौतिक सतोगुण भी, जो कि सर्वोच्च गुण है, भव-बन्धन का कारण है, तो अन्य गुणों—रज तथा तम के विषय में क्या कहा जाय। रज तथा तम-गुणों से भौतिक भोग की इच्छा बढ़ती है और प्रबल कामेच्छा से सम्पत्ति तथा शक्ति के संचय को बल मिलता है। जिसने इन दोनों अधम प्रवृत्तियों को जीत लिया है और अपने आप को सत्त्वगुण के स्तर तक उन्नत कर लिया है, जो ज्ञान तथा नैतिकता से परिपूर्ण है, वह भी इन्द्रियों को अर्थात् नेत्र, जीभ, नाक, कान तथा स्पर्शेन्द्रियों को वश में नहीं कर सकता। किन्तु जिसने उपर्युक्त विधि से, भगवान् हरि के चरणों में आत्म-समर्पण कर दिया है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के प्रभावों को पार कर सकता है और भगवान् की सेवा में स्थिर हो सकता है। अतएव भक्तियोग-विधि इन्द्रियों को सीधे भगवान् की प्रेमामयी सेवा में लगाती है। इससे कर्ता भौतिक कार्यकलापों में नहीं लग पाता। इन्द्रियों को भौतिक आसक्ति से मोड़कर भगवान् की दिव्य प्रेमामयी सेवा में लगाने की यह विधि प्रत्याहार कहलाती है और यह सारी प्रक्रिया प्राणायाम कहलाती है, जिसका अन्त समाधि में अर्थात् सभी तरह से परमेश्वर हरि को प्रसन्न करने के लिये तन्मय रहने में होता है।

विज्ञानात्मनि संयोज्य क्षेत्रज्ञे प्रविलाप्य तम् ।

ब्रह्मण्यात्मानमाधारे घटाम्बरमिवाम्बरे ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

विज्ञान—शुद्ध पहचान; आत्मनि—बुद्धि में; संयोज्य—ठीक से स्थिर करके; क्षेत्र-ज्ञे—जीव में; प्रविलाप्य—तादात्म्य करके; तम्—उसको; ब्रह्मणि—सर्वोपरि में; आत्मानम्—शुद्ध जीव; आधारे—आधार में; घट-अम्बरम्—घट के भीतर आकाश; इव—सदृश; अम्बरे—परम व्योम में।

धृतराष्ट्र को अपनी शुद्ध सत्ता को बुद्धि में संयोजित करके, तब परम पुरुष के साथ, जीव के रूप में, गुणों के एकात्मकता के बोध सहित, परम ब्रह्म के साथ तदाकार होना होगा। घटाकाश से मुक्त होकर उन्हें आध्यात्मिक आकाश ऊपर तक उठना होगा।

तात्पर्य : जीव भौतिक जगत् पर प्रभुता जताने तथा परमेश्वर के साथ सहयोग न करने की इच्छा से महत् तत्त्व से सम्पर्क करता है और इस महत् तत्त्व से भौतिक जगत्, बुद्धि, मन तथा इन्द्रियों के साथ उसकी झूठी पहचान बनती है। इससे उसकी शुद्ध आध्यात्मिक पहचान ठक जाती है। योग-विधि से जब आत्म-साक्षात्कार में उसकी शुद्ध पहचान की अनुभूति हो जाती है, तो उसे पाँच स्थूल तत्त्वों तथा मन और बुद्धि नामक सूक्ष्म तत्त्वों को संयोजित करके मूल स्थिति में अर्थात् पुनः महत्-तत्त्व में लौटना होता है। इस प्रकार उसे महत्-तत्त्व के बन्धन से छूटकर परमात्मा में तदाकार होना होता है। दूसरे शब्दों में, उसे इसकी अनुभूति करनी होती है कि वह गुणात्मक रूप से परमात्मा से अभिन्न है। इस तरह से वह अपनी शुद्ध पहचान करके भौतिक आकाश को पार कर सकता है और इस प्रकार भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लग जाता है। धृतराष्ट्र ने विदुर तथा भगवान् की कृपा से आध्यात्मिक पहचान की यह सर्वोच्च सिद्ध अवस्था प्राप्त कर ली। विदुर के व्यक्तिगत सम्पर्क से उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो सकी और जब वे विदुर के उपदेशों का वास्तव में पालन कर रहे थे, तब भगवान् ने सिद्ध अवस्था प्राप्त करने में उनकी सहायता दी।

भगवान् का शुद्ध भक्त न तो भौतिक आकाश के किसी ग्रह पर रहता है, न ही वह भौतिक तत्त्वों से किसी प्रकार के सम्पर्क का अनुभव करता है। भगवान् के उद्देश्य के समान ही उद्देश्य की आध्यात्मिक धारा से परिपूरित होने के कारण उसके तथाकथित भौतिक शरीर का अस्तित्व नहीं रहता और इस तरह वह महत् तत्त्व के सारे कल्मष से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। वह सदैव

आध्यात्मिक आकाश में रहता है, जिसे वह अपनी भक्तिमय सेवा के प्रभाव से सात भौतिक आवरणों को भेदकर प्राप्त करता है। बद्धजीव इन आवरणों के भीतर रहते हैं, जबकि मुक्त जीव इनसे परे होते हैं।

ध्वस्तमायागुणोदको निरुद्धकरणाशयः ।
निवर्तिताखिलाहार आस्ते स्थाणुरिवाचलः ।
तस्यान्तरायो मैवाभूः सन्न्यस्ताखिलकर्मणः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

ध्वस्त—विनष्ट होकर; माया-गुण—भौतिक प्रकृति के गुण; उदकः—परवर्ती प्रभाव; निरुद्ध—रुक कर; करण-आशयः—इन्द्रियों तथा मन; निवर्तित—रुका हुआ; अखिल—समस्त; आहारः—इन्द्रियों का भोजन; आस्ते—आसीन है; स्थाणुः—अचर; इव—सदृश; अचलः—स्थिर; तस्य—उसके; अन्तरायः—विघ्न, बाधाएँ; मा एव—कभी इस तरह; अभूः—हो; सन्न्यस्त—विरक्त; अखिल—सभी तरह के; कर्मणः—भौतिक कर्तव्य।

उन्हें इन्द्रियों के सारे कार्य बाहर से भी रोक देने होंगे और भौतिक प्रकृति के गुणों से प्रभावित होनेवाली इन्द्रियों की अन्तःक्रियाओं के प्रति भी अभेद्य रहना होगा। इन सारे भौतिक कार्यों का परित्याग करने पर वे अचल हो जायेंगे और मार्ग के सारे अवरोधों को पार कर जायेंगे।

तात्पर्य : धृतराष्ट्र ने योग-विधि के द्वारा सब प्रकार की भौतिक प्रतिक्रिया का निषेध करने का स्तर प्राप्त कर लिया था। प्रकृति के भौतिक गुणों के प्रभाव का शिकार बना जीव पदार्थ को भोगने की दुर्दम्य इच्छा के वश हो जाता है, किन्तु योग-विधि से मनुष्य ऐसे मिथ्या भोग से बच सकता है। प्रत्येक इन्द्रिय सदा अपने भोजन की तलाश में रहती है और इस तरह बद्धजीव पर चारों ओर से हमला होता है और उसे किसी भी कार्य में स्थिर होने का अवसर नहीं मिल पाता। नारद ने महाराज युधिष्ठिर को सलाह दी कि वे अपने ताऊ को घर वापस लाने का प्रयास करके उन्हें विचलित न करें। वे अब किसी भी भौतिक वस्तु के आकर्षण से परे थे। भौतिक प्रकृति के गुणों की कार्य करने की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु प्रकृति के भौतिक गुणों के भी ऊपर आध्यात्मिक गुण हैं, जो परमपूर्ण हैं। *निर्गुण* का अर्थ है, प्रतिक्रिया-विहीन। आध्यात्मिक गुण तथा इसका प्रभाव समान हैं, अतएव आध्यात्मिक गुण को *निर्गुण* कहकर उसे भौतिक गुण से भिन्न दिखाया जाता है। प्रकृति के भौतिक गुणों से पूर्णतः अवरुद्ध होने पर, मनुष्य आध्यात्मिक मंडल में प्रवेश करता है और आध्यात्मिक गुणों से प्रेरित कर्म *भक्ति* कहलाता है।

अतएव भक्ति परम पूर्ण के सीधे सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया गया निर्गुण है, जिसे परम-पूर्ण सम्पर्क द्वारा प्राप्त किया जाता है।

स वा अद्यतनाद् राजन् परतः पञ्चमेऽहनि ।

कलेवरं हास्यति स्वं तच्च भस्मीभविष्यति ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वा—सम्भवतया; अद्य—आज; तनात्—से; राजन्—हे राजन्; परतः—आगे; पञ्चमे—पाँचवें; अहनि—दिन; कलेवरम्—शरीर; हास्यति—छोड़ देंगे; स्वम्—अपनी इच्छा से; तत्—वह; च—भी; भस्मी—राख; भविष्यति—हो जायेगा।

हे राजन्, सम्भव यह है कि वे आज से पाँचवें दिन अपना शरीर छोड़ देंगे और उनका शरीर राख हो जायेगा।

तात्पर्य : नारद मुनि की भविष्यवाणी ने युधिष्ठिर महाराज को उस स्थान को जाने से रोक दिया, जहाँ उनके तारु रह रहे थे, क्योंकि अपनी योग-शक्ति से अपना शरीर त्यागने के बाद भी धृतराष्ट्र को किसी दाह-संस्कार की आवश्यकता न थी। नारदमुनि ने संकेत किया कि उनका शरीर स्वतः जलकर भस्म हो जायेगा। योग-पद्धति की सिद्धि ऐसी ही योग-शक्ति से प्राप्त की जाती है। योगी इच्छित समय में अपना शरीर-त्याग कर सकता है और अपने इस शरीर को, खुद के लिए सृजित की हुई अग्नि से भस्म करके इच्छित ग्रह को प्राप्त कर सकता है।

दह्यमानेऽग्निभिर्देहे पत्युः पत्नी सहोत्तजे ।

बहिः स्थिता पतिं साध्वी तमग्निमनु वेक्ष्यति ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

दह्यमाने—जलते हुए; अग्निभिः—अग्नि द्वारा; देहे—शरीर में; पत्युः—पति के; पत्नी—पत्नी; सह-उत्तजे—कुटिया समेत; बहिः—बाहर; स्थिता—स्थित; पतिम्—पति को; साध्वी—सती नारी; तम्—उस; अग्निम्—अग्नि को; अनु वेक्ष्यति—ध्यानपूर्वक देखते हुए अग्नि में प्रवेश करेगी।

बाहर से अपने पति को अपनी योग शक्ति की अग्नि में अपनी कुटिया समेत जलता हुआ देखकर उसकी साध्वी पत्नी एकाग्रता पूर्वक ध्यानमग्न होकर अग्नि में प्रवेश करेगी।

तात्पर्य : गान्धारी एक आदर्श सती नारी थीं। वे अपने पति की जीवन-संगिनी थीं, अतएव जब उन्होंने देखा कि उनके पति योग की अग्नि में पर्णकुटी समेत जल रहे हैं, तो वे निराश हो गईं। उन्होंने

अपने सौ पुत्र खोने के बाद घर छोड़ दिया था और अब जंगल में अपने अत्यन्त प्रिय पति को भी जलते हुए देख रही थीं। अब वे वास्तव में अकेली अनुभव कर रहीं थीं, अतएव वे भी अपने पति की अग्नि में प्रवेश कर, पति का अनुगमन करते हुए मर गईं। सती स्त्री का अपने पति की अग्नि में प्रवेश करना *सती-संस्कार* कहलाता है और यह कर्म स्त्री के लिए अत्युत्तम माना जाता है। बाद के युग में, यह सती-प्रथा अत्यन्त घृणित अपराधी कृत्य बन गयी, क्योंकि यह प्रथा अनिच्छित स्त्री पर भी थोपी जाने लगी। इस पतित युग में किसी भी स्त्री के लिए गान्धारी तथा अन्यो के समान सती-संस्कार का शुद्ध विधि से पालन करना सम्भव नहीं है। गान्धारी-जैसी सती नारी को पति का वियोग वास्तविक अग्नि से अधिक दाहक प्रतीत होता था। ऐसी नारी स्वेच्छा से सती-धर्म का पालन कर सकती है, किन्तु किसी के द्वारा बल प्रयोग नहीं किया जाता है। जब यह प्रथा औपचारिकता बन गयी, तो इस नियम के पालन कराने के लिए नारी पर बलप्रयोग किया जाने लगा, तब यह सचमुच अपराध-पूर्ण बन गयी, अतएव राज-नियम द्वारा इसे बन्द कराना पड़ा। नारदमुनि की इस भविष्यवाणी ने, महाराज युधिष्ठिर को अपनी विधवा ताई के पास जाते रोक दिया।

विदुरस्तु तदाश्चर्यं निशाम्य कुरुनन्दन ।

हर्षशोकयुतस्तस्माद् गन्ता तीर्थनिषेवकः ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः—विदुर भी; तु—लेकिन; तत्—वह घटना; आश्चर्यम्—आश्चर्यमय; निशाम्य—देखकर; कुरु-नन्दन—हे कुरुवंश के पुत्र; हर्ष—प्रसन्नता; शोक—दुख; युतः—से प्रभावित; तस्मात्—उस स्थान से; गन्ता—चले जाएँगे; तीर्थ—तीर्थ-स्थान; निषेवकः—शक्ति प्राप्त करने के लिए।

तब हर्ष तथा शोक से अभिभूत होकर, विदुर उस पवित्र तीर्थ-स्थान से चले जाएँगे।

तात्पर्य : विदुर, मुक्त योगी के रूप में अपने भ्राता धृतराष्ट्र के आश्चर्यमय प्रयाण को देखकर चकित थे, क्योंकि वे अपने विगत जीवन में भौतिकतावाद अत्यधिक लिस थे। निस्सन्देह, विदुर के ही कारण, उनके भाई को जीवन की वांछित गति प्राप्त हुई। अतएव यह जानकर विदुर परम प्रसन्न थे। लेकिन उन्हें दुख था कि वे अपने भाई को शुद्ध भक्त न बना पाये। विदुर ऐसा न कर पाये, क्योंकि धृतराष्ट्र उन पाण्डवों से शत्रुभाव रखते थे, जो सारे भगवान् के भक्त थे। वैष्णव के चरणकमलों पर किया गया अपराध भगवान् के चरणकमलों पर किये गये अपराध से अधिक घातक होता है। निश्चय ही विदुर

अपने भाई धृतराष्ट्र पर अत्यन्त कृपालु थे, जिनका पिछला जीवन अत्यन्त भौतिकवादी था, किन्तु ऐसी कृपा का वर्तमान जीवन में फल अन्ततः परमेश्वर की इच्छा पर निर्भर होता है। अतएव धृतराष्ट्र को केवल मुक्ति-लाभ हुआ। ऐसे अनेक मुक्त जीवनों के बाद ही भक्ति की अवस्था प्राप्त हो पाती है। विदुर अपने भाई तथा भाभी की मृत्यु से अत्यन्त शोकातुर थे और ऐसे शोक को दूर करने का एकमात्र उपाय था कि वे तीर्थयात्रा के लिए निकल पड़ें। अतएव महाराज युधिष्ठिर के पास अपने जीवित चाचा विदुर को वापस बुलाने का अवसर न था।

इत्युक्त्वाथारुहत् स्वर्गं नारदः सहतुम्बुरुः ।

युधिष्ठिरो वचस्तस्य हृदि कृत्वाजहाच्छुचः ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; उक्त्वा—सम्बोधित करके; अथ—तत्पश्चात्; आरुहत्—चढ़ गये; स्वर्गम्—बाह्य आकाश में; नारदः—महर्षि नारद; सह—के साथ; तुम्बुरुः—तम्बूरा; युधिष्ठिरः—महाराज युधिष्ठिर ने; वचः—उपदेश; तस्य—उनका; हृदि कृत्वा—हृदय में रखकर; अजहात्—त्याग दिया; शुचः—सारा शोक।

ऐसा कहकर महर्षि नारद, अपनी वीणा-समेत बाह्य आकाश में चले गये। युधिष्ठिर ने उनके उपदेश को अपने हृदय में धारण किया, जिससे वे सारे शोकों से मुक्त हो गये।

तात्पर्य : श्री नारदजी शाश्वत अन्तरिक्ष पुरुष हैं, जिन्हें भगवत्कृपा से आध्यात्मिक शरीर प्राप्त हुआ है। वे बिना किसी प्रतिरोध के, भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ही जगत्तों के बाह्य आकाश में विचरण कर सकते हैं और देखते ही देखते, दूर-सूदूर के किसी भी ग्रह में तत्क्षण पहुँच सकते हैं। दासी-पुत्र के रूप में हम उनके विगत जीवन का वर्णन पहले ही कर चुके हैं। शुद्ध भक्तों की संगति करने से ही, उन्हें शाश्वत अन्तरिक्ष-पुरुष का पद प्राप्त हुआ था, अतएव उन्हें विचरण करने की स्वतंत्रता थी। हमें नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयास करना चाहिए और यांत्रिक साधनों से अन्य लोकों तक पहुँचने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना चाहिए। महाराज युधिष्ठिर धर्मात्मा राजा थे, अतएव समय-समय पर उन्हें नारदमुनि के दर्शन होते रहते थे; अतएव जो नारदमुनि का दर्शन करने के इच्छुक हों, उन्हें सर्वप्रथम पवित्र बनना होगा और नारदमुनि के चरण-चिह्नों पर चलना होगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध के अन्तर्गत “धृतराष्ट्र द्वारा गृहत्याग” नामक तेरहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।